

जैन योग पारिभाषिक शब्दकोश

मुनि राकेश कुमार

जैन योग पारिभाषिक शब्दकोश

मुनि राकेशकुमार

जैन विश्व भारती प्रकाशन

श्री अम्बालाल देवीचन्द तलेसरा (सेमड़), विश्व भारती मिल्क
एजेन्सी, I-3303 टेक्सटाइल मार्केट, सूरत
एवं
मेसर्स वी. हितैष एण्ड कम्पनी, 1022, श्री महावीर टेक्सटाइल
मार्केट, रिंग रोड, सूरत-395002
के
आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित ।

I S B No, 81-7195-019-1

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : जून, १९९१

मूल्य : तीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

JAIN YOG PARIBHASHIK SABDKOSH
Muni Rakeshkumar

Rs. 30.00

आशीर्वचन

प्रस्तुत पुस्तक पारिभाषिक शब्दकोश का समाकलन है। परिभाषाओं का वर्चस्व सब क्षेत्रों में रहा है। धर्म, दर्शन, तत्त्वज्ञान, विज्ञान कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं जहां अनल्प को अल्प में गूँथने के लिए परिभाषाएं न गड़ी गई हों।

जैन योग की विषय-वस्तु और उसका साहित्य विशाल है। मुनि राकेशजी ने उस महासागर को गागर में भरने का प्रयत्न किया है। इस आयास में आगमकालीन योग का स्पर्श कम है, उत्तरकालीन योग का समाहार अधिक है। आचार्य हरिभद्र, आचार्य नेमचन्द्र, आचार्य शुभचन्द्र, उपाध्याय यशोविजयजी आदि अनेक विद्वानों ने जैन योग का विकास किया था। उस विकास का दर्शन इस पुस्तक में हो जाता है। भविष्य में इसे और अधिक सर्वांगीण बनाने की अपेक्षा है।

मुनि राकेशजी स्वाध्यायशील हैं। उनमें अध्ययन और लेखन की अभिरुचि है। अध्ययन और अध्यवसाय के साथ इस कार्य को उन्होंने सम्पन्न किया है। यह प्रयत्न अध्येताओं और अनुसंधाताओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

७-५-६१

ग्रीन हाऊस, सी स्कीम,
जयपुर

युवाचार्य महाप्रज्ञ

सम्पादकीय

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में यह एक मौलिक अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है कि लगभग प्रत्येक भारतीय दर्शन में तत्त्व-चिन्तन के साथ-साथ अध्यात्म-साधना की परम्परा जुड़ी हुई है, जबकि सभी पाश्चात्य दर्शन कोरे तर्क, बुद्धि एवं चिन्तनात्मक प्रक्रिया तक सीमित रह जाते हैं। सभी भारतीय अध्यात्म-साधना की पद्धतियाँ प्रायोगिक अभ्यास के रूप में प्ररूपित हैं। इन अध्यात्म-साधना की विभिन्न परम्पराओं में जैन पद्धति का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है।

जैन, बौद्ध और वैदिक साधना-पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में ऐसी संभावनाएं भी सामने आ रही हैं कि जैन साधना-पद्धति का प्राचीन रूप जो श्रमण-संस्कृति के उद्गमबिन्दु के समय था, उससे बौद्ध और पातञ्जल योग सहित वैदिक साधना-पद्धति—दोनों प्रभावित हुई हैं। बहुत सारे शब्द जो बौद्ध एवं वैदिक साधना-पद्धति में प्रयुक्त हुए हैं, स्पष्ट रूप से मूलतः जैन साधना-पद्धति से जुड़े हुए हैं। कैवल्य, बोधि, विपश्यना, समाधि, ध्यान, आदि इनके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस दृष्टि से जैन साधना-पद्धति का मौलिक अध्ययन महत्वपूर्ण हो जाता है।

अध्यात्म-साधना के लिए “योग” शब्द-प्रयोग भी जैन आगमों में उपलब्ध होता है। यह दूसरी बात है कि उत्तरकालीन आचार्यों ने पातञ्जल योगसूत्र से प्रभावित होकर अनेक शब्दों को जैन योग में स्थान दिया था। इसके साथ-साथ यह भी शोध का विषय बना हुआ है कि प्राक्-पातञ्जल काल में जैन योग-पद्धति का स्वरूप क्या था ? उसकी आसन, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि की प्रणालियों का प्रायोगिक रूप क्या था ? कम से कम इतना तो असंदिग्धतया कहा जा सकता है कि जैन योग के प्राचीन स्वरूप में अपनी अनेक मौलिकताएं थीं, पर उत्तरकाल में प्राचीन परम्परा विच्छिन्न होने पर जैन आचार्यों ने पातञ्जल योगसूत्र एवं अन्यान्य परम्पराओं के आधार पर जैन योग का विकास किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मध्यकालीन जैन योगग्रन्थों के आधार पर पारिभाषिक शब्दों के ससन्दर्भ व्याख्या-कोश के रूप में है। विद्वान् लेखक ने अत्यन्त परिश्रम एवं मनोयोग से इसे संदृब्ध किया है। जैन योग के जिज्ञासु विद्वानों एवं विद्यार्थियों के लिए यह एक सन्दर्भ-ग्रन्थ का काम दे सकता है।

छह

आचार्य श्री तुलसी और युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ के दिशा-निर्देशन में अनेक विधाओं में साहित्य-निर्माण-कार्य चल रहा है। कोष-निर्माण अपने-आप में एक गुरुतर कार्य है। योग जैसे विषय के पारिभाषिक शब्दों का कोश अपने आप में एक सर्वथा नूतन संकल्पना है। उसके संपादन में अपेक्षित योग्यता प्राप्त करने में निश्चित ही आचार्यप्रवर एवं युवाचार्य श्री का आशीर्वाद ही निमित्त बना है।

लेखक मेरे रत्नाधिक मुनिवर्य हैं, इतना ही नहीं बहुत पहले से ही उनका अपार वात्सल्य प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला है। उनके इस चिर-स्मरणीय प्रणयन के संपादन का सौभाग्य भी उन्होंने मुझे दिया, इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। अकारादि क्रम को व्यवस्थित करने में जैन विश्व भारती में कार्यरत व्याख्यात्री डा० रत्ना पुरोहित ने काफी श्रम किया, जिससे मेरे संपादन-कार्य में मुझे कम श्रम करना पड़ा। एतदर्थ डा० रत्ना का मैं आभारी हूँ। मेरे सहयोगी सन्त मुनि अजितकुमार और मुनि मदनकुमार मेरे अन्यान्य कार्यों में सहयोग करते रहे हैं, जिससे मैं संपादन, लेखन आदि कार्यों में दत्तचित्त होकर लग सकता हूँ। उनके प्रति भी मैं हार्दिक अहोभाव ज्ञापित करता हूँ।

प्रूफ संशोधन, मुद्रण, प्रकाशन आदि में जैन विश्व भारती के अधिकारी-गण एवं विद्वद्गण ने जो पूर्ण दायित्व निर्वह किया, उसकी बदौलत ही यह ग्रन्थ पाठकों के हाथों तक पहुंच सका है, ऐसा मैं मानता हूँ।

५ मई १९९१
जयपुर (राज०)

मुनि महेन्द्र कुमार

भूमिका

जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित कोष साहित्य की शृंखला में “जैन योग पारिभाषिक शब्दकोष” का स्थान चतुर्थ है। जैन योग एक अत्यन्त व्यापक विषय है। इसके अन्तर्गत जैन श्रावकाचार एवं निर्गुथाचार के समस्त पारिभाषिक शब्द आ जाते हैं। इन शब्दों का भी समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रस्तुत लघुकाय ग्रन्थ में उन समस्त पारिभाषिक शब्दों को संकलित करना किसी प्रकार से संभव नहीं था। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है।

जैन योग पर कई अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उन में आचार्य हरिभद्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र एवं उपाध्याय यशोविजय की रचनायें उल्लेख योग्य हैं। मुनिश्री राकेशकुमारजी ने प्रस्तुत कोष की रचना में इस साहित्य का यथेष्ट उपयोग सफलतापूर्वक किया है। इसके निर्माण में यदि अपने मूल्यवान समय में से कुछ और अधिक समय दे पाते तो इसकी उपयोगिता और भी अधिक हो सकती थी। पारिभाषिक शब्दों की संख्या भी बढ़ जाती एवं शब्द भी यथा-स्थान आ जाते। उदाहरणार्थ, “योग” “विचार” जैसे शब्द अपने स्थान पर आ जाते एवं उन्हें खोजने के लिए पाठक को प्रयत्न करना नहीं पड़ता।

प्रस्तुत कोष के पादटिप्पण अत्यन्त उपयोगी हैं। ऐसे कई पारिभाषिक शब्द जो मूल कोष में नहीं आ पाये हैं, उनका समावेश सन्दर्भ सहित उन टिप्पणों में हो गया है। सन्दर्भों के सरल अनुवाद से कोष की उपयोगिता काफी बढ़ गई है।

योग संबंधी कोष निर्माण की दिशा में यह पहला प्रयत्न है। अतः उपर्युक्त कठिनाइयों का होना स्वाभाविक ही था। जैन योग पारिभाषिक शब्द कोष निर्माण की परिकल्पना लेखक की निजी है, जो अत्यन्त सराहनीय है। मुझे पूरा विश्वास है कि कोष के द्वितीय संस्करण के अवसर पर मुनिश्री कुछ अधिक समय लगा कर इसे और भी अधिक उपयोगी बनायेंगे। ऐसे कोष की आवश्यकता योग के जिज्ञासुओं के मन में सदैव रहेगी, जिसकी पूर्ति लेखक भविष्य में पूर्णमात्रा में अवश्य करेंगे—इसमें किसी भी प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं है।

आठ

मुनिश्री राकेशकुमारजी की विद्वत्ता से हमें सतत प्रेरणा मिलती रहेगी—यह हमारी शुभ कामना है ।

जैन विश्व भारती
लाङ्गून
अप्रैल ३०, १९९१

नथमल टाटिया
निदेशक
अनेकान्त शोध पीठ

स्व-कथ्य

विचारों के संवहन का ही मुख्य माध्यम है शब्द। शताब्दियों-सहस्राब्दियों की लम्बी शृंखला में विचारों के जो विविध आयाम उद्भावित, विकसित और पल्लवित हुए, उनके स्थायित्व के मूल में शब्द-समवाय ही है। लिपि, शब्द नहीं है। वह तो शब्द की एक कल्पित आकृति है। शब्द ध्वन्यात्मक है। जब लिपि का आविष्कार नहीं हुआ, तब भी शब्द का अस्तित्व रहा। मानव ने अपनी स्मरण-शक्ति में उसे संजोये रखा।

गुरुजनों से अन्तेवासी सुनते, उसे स्मृति में रख लेते, आगे यह क्रम चलता रहा। वेदों, स्मृतियों तथा जैन आगम साहित्य को जो श्रुत कहा जाता है, वह इसी तथ्य का सूचक है।

ज्यों-ज्यों मानव की स्मृति दुर्बल, क्षीण होती गयी, उसे शब्द की आकृति-विशेष की मंजूषा में सुरक्षित बनाये रखने की चिंता हुई। फलतः लिपि का आविष्कार हुआ। वर्णमाला की रचना हुई। शब्दात्मक ध्वनियों को वर्णमाला के सूत्र में पिरोकर रखा जाने लगा। विश्व का उपलब्ध प्राचीनतम, प्राचीनतर एवं प्राचीन—सारा का सारा वाङ्मय इसी की फलनिष्पत्ति है।

शब्द और अर्थ के पारस्परिक संबंध के संदर्भ में व्याकरण, निरुक्त आदि प्राचीन शास्त्रों में लम्बी चर्चाएं हुई हैं। उन चर्चाओं के दायरे ने बड़ा दार्शनिक विस्तार पाया। स्फोटवाद जैसे सिद्धान्त उससे उद्गत हुए।

शब्द द्वारा परिज्ञापित अर्थ के साथ अनेक अपेक्षाएं संलग्न हैं, जिनमें व्याकरण संबंधी व्युत्पत्ति, सांस्कृतिक परिवेश, सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रयोक्ताओं की भूमिकाएं आदि अनेक पक्ष जुड़े हैं, जिनका वैज्ञानिक विश्लेषण, भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र (linguistics) की परिधि में आता है। भाषा-विज्ञान आज की अध्ययन-परिपाटी में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। प्राचीन अध्ययन-पद्धति में यह बिलकुल नहीं था, ऐसा तो नहीं है, किन्तु आज जिस प्रकार एक स्वतन्त्र विषय के रूप में समीक्षात्मक, वैज्ञानिक पद्धति से इसका अध्ययन, अनुशीलन किया जाता है, वह वास्तव में वर्तमान युग की विशिष्ट उपलब्धि है, जिसके अन्तर्गत समस्त विश्व-व्यापी भाषाओं के पारस्परिक संबंध, तादात्म्य, सामीप्य आदि की सूक्ष्म व्याख्याएं समाविष्ट हैं।

दीर्घकालीन प्रयोग द्वारा शब्द एक निश्चित अर्थ-परिपाक प्राप्त कर लेता है, जो मुख्यार्थ कहलाता है, जिसे निर्धारित करने हेतु, साहित्य में

अभिधा शक्ति का प्रयोग होता है। मुख्यार्थ से भिन्न किन्तु तत्-समीपस्थ अर्थ के ज्ञापन हेतु लक्षण और व्यंजना शक्तियां प्रयोग में आती हैं, जिनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विशद विश्लेषण हुआ है।

शब्द की बड़ी विचित्र स्थिति है। एक बार निश्चित हुआ अर्थ भी परिस्थितियों के कारण आगे चलकर बदल जाता है, बदलता जाता है। उदाहरण के लिए “जुगुप्सा” शब्द को लें, जो कभी गोप्तुम् इच्छा-रक्षा करने की इच्छा के अर्थ में प्रयुक्त था। आगे चलकर वह छिपाने के अर्थ में बदला। फिर उसका अर्थ “घृणा” हो गया। इस बदलते जाते क्रम के बावजूद शब्दों के अर्थ कहीं न कहीं विश्राम तो पाते ही हैं। भावों की अभिनव उद्भावनाओं के आधार पर नये-नये शब्द भी बनते जाते हैं। इस प्रकार बनते, विकसित होते, विस्तार पाते, शब्दों का एक बृहत् समवाय बन जाता है, जिसे आगे की पीढ़ियों के लिए सुरक्षित बनाये रखने हेतु कोश साहित्य (Lexicography) का सृजन होता है। कोश का अर्थ निधि या खजाना है। शब्द-कोश—शब्दों का खजाना है।

शब्दों के संदर्भ में एक बात और जानने योग्य है। विभिन्न शास्त्रों में शब्द-प्रयोग की अपनी विधाएं हैं। विशेष भावों, अभिप्रायों तथा पदार्थों के परिज्ञापन हेतु वहां विशेष शब्दों के प्रयोग होते हैं। उन्हीं शब्दों का ठीक उन्हीं अर्थों में अन्य शास्त्रों के क्षेत्र में प्रयोग नहीं होता। वे शब्द अपने साथ भिन्न-भिन्न परिभाषाओं को लिए चलते हैं। इस प्रकार एक तकनीकी-पारिभाषिक स्वरूप उनके साथ जुड़ा रहता है, जिसकी संसूचना शब्द-कोश के बिना संभव नहीं है।

प्राच्य विद्या के अन्तर्गत जैन वाङ्मय का दायरा बड़ा विशाल है। आगम, न्याय, दर्शन, व्याकरण, काव्य, योग आदि अनेक विषयों में वह विस्तीर्ण है। उन-उन विषयों में प्रयुक्त, प्रयुज्यमान शब्दों को जब अध्ययन-अनुसंधान के संदर्भ में कोई समझना चाहता है, आत्मसात् करना चाहता है तो उसे शब्द-कोश के रूप में सहायक की अनुभूति होती है। ‘जैन योग पारिभाषिक शब्द-कोश की रचना के मूल में यही तथ्य प्रेरक बना।

पातंजल योग के प्रकाश में आने के बाद योग का जो चित्तशुद्धिमूलक व्यापक अर्थ साधना के साथ जुड़ा, उसका सभी परम्पराओं पर प्रभाव पड़ा। जिस साधना की पातंजल योग व्याख्या करता है, जैन परम्परा में तत्समकक्ष आत्मशोधन-परक साधना का क्रम तपस्या के विभिन्न भेदों के रूप में चिरकाल से प्रचलित रहा है। किन्तु उस क्रम को जब यौगिक पद्धति के ढांचे में ढालकर प्रस्तुत किया जाने लगा, तो जैन योग के रूप में एक विधा का विकास हुआ। उस पर महान् प्रज्ञाशील आचार्य हरिभद्र, कलिकालसर्वज्ञ

आचार्य हेमचन्द्र, परम ज्ञानी आचार्य शुभचन्द्र, मनीषि-मूर्धन्य उपाध्याय यशोविजय आदि विद्वानों ने अनेक ग्रंथ रचे, जिनका भारतीय वाङ्मय में बड़ा महत्त्व है। उन सबका जैन योग में समावेश होता है।

जैन आचार्यों का चिन्तन अनेकान्तवादी और समन्वयवादी रहा है। उन्होंने किसी भी क्षेत्र में आग्रह को उचित नहीं समझा। भाषा के क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण समन्वय प्रधान रहा है। जिस काल और जिस क्षेत्र में जनता के लिए जो शब्द ग्राह्य था, उन्होंने उसे उदारता से स्वीकार किया और अपने साहित्य में स्थान दिया। इस प्रकार के हजारों उदाहरणों में 'योग' शब्द स्वयं एक विशिष्ट उदाहरण है।

जैन परम्परा में योग शब्द का प्राचीन अर्थ मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति है। इसके अतिरिक्त साधना के अर्थ में भी आगमों में योग शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ—अज्झप्पभाण जोग, भावणा-जोग आदि जब योग शब्द अष्टांग साधना के अर्थ में प्रचलित और प्रसिद्ध हुआ तो जैन आचार्यों ने उस अर्थ में भी योग शब्द को मान्यता दी। जैन मनीषियों ने अपने वाङ्मय में आसन, प्राणायाम और ध्यान आदि के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग बहुत मुक्त भाव में किया। अष्टांग योग के तीसरे प्रकार आसन के अर्थ में जैन आगमों में स्थान (ठाणं) शब्द का प्रयोग हुआ है। वह कायक्लेश नामक तप का भेद है। भगवान महावीर की तपस्या के विवेचन में भी स्थान शब्द का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। पिछली कई शताब्दियों के जैन ग्रन्थों में स्थान की अपेक्षा आसन शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। यह भी जैन आचार्यों की समन्वयशीलता का परिचायक है।

अमृत पुरुष आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा से मैंने आचारांगसूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध कण्ठस्थ किया था। कई वर्षों तक उसका स्वाध्याय भी किया। इससे जैन योग पर अध्ययन-अनुशीलन की एक विशेष भूमिका का निर्माण मेरे मानस में हुआ। उसके बाद आचार्य हरिभद्र सूरी द्वारा निर्मित योगविशिका का वाचन किया। योगविशिका की पहली गाथा में जैन और पातंजल योग के समन्वय का अद्भुत दर्शन होता है। वह गाथा इस प्रकार है—

“मोक्षेण जोयणाओ, जोगो सबोवि धम्मवाचारो।

परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेणं ॥”

मोक्ष से जोड़ने के कारण सभी प्रकार का शुद्ध और पवित्र धर्मव्यापार धार्मिक आराधना का कार्यक्रम 'योग' है। किन्तु आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व ध्यान आदि को विशेष रूप से योग समझना चाहिए।

योगविशिका के अध्ययन से प्रेरित होकर कलकत्ता प्रवास में योग-दृष्टि समुच्चय, योग-बिन्दु व योग-शतक आदि हरिभद्र सूरी के ग्रन्थों का

बारह

अध्ययन किया। जैन विश्व भारती (लाहन्) के प्रवास में जैन योग से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों के स्वाध्याय का सुयोग प्राप्त हुआ। “जैन योग की परम्परा” नामक पुस्तक उस समय लिखी गयी। दिनांक २ फरवरी १९८२ को गंगाशहर (राज) में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय योग सम्मेलन के अवसर पर उस पुस्तक का प्रकाशन हुआ। मुझे इस बात से संतोष है कि योग की दिशा में कार्यरत विद्वानों और सहृदय जनों ने उस प्रयास को उपयोगी माना। उस पुस्तक के परिशिष्ट में जैन योग सम्बन्धी सहस्राधिक पारिभाषिक शब्दों का संचयन भी प्रस्तुत किया गया था। इस कोश में उन्हीं शब्दों की संदर्भ सहित संक्षिप्त व्याख्या है। जैन योग के अध्येताओं, जिज्ञासुओं और साधकों के लिए आर्हत परम्परा में विकसित योग के साहित्यिक रूप को समझने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी, ऐसा विश्वास है।

पुस्तक में जिन-जिन ग्रन्थों से शब्द लिए गये हैं उनके तथा उनके रचनाकारों का अन्त में संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिससे पाठकों को जैन योग के प्रमुख आचार्यों तथा उनकी कृतियों की जानकारी प्राप्त हो सकेगी। मुनिश्री महेन्द्र कुमार जी और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन विद्वान डॉ० नथमल टाटिया का दिशा-दर्शन इस कार्य की सम्पन्नता में सहयोगी और उपयोगी रहा है। मैं उनके प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

आज न केवल भारतवर्ष में वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी योग के प्रति एक सहज आकर्षण है। योगाभ्यास तथा ध्यान के केन्द्र, संस्थान, पाठ्यक्रम आदि गतिशील हैं। जैन योग भी आज केवल चर्चा और चिन्तन का विषय नहीं रहा, उस दिशा में अनेक साधना क्रम चल रहे हैं। उनमें परमाराध्य युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में प्रज्ञापुरुष युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ द्वारा निर्दिष्ट प्रेक्षाध्यान का अप्रतिम स्थान है।

प्रेक्षाध्यान की समग्र पद्धति मूलतः आचारांग आदि प्राचीन जैन आगमों में उपलब्ध साधना के सूत्रों के आधार पर विकसित की गई है। विचयध्यान की लुप्त प्रक्रिया को इसमें एक नया रूप मिला है। साथ ही आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रदत्त शरीर-विज्ञान की नई व्याख्याओं के साथ इसे जोड़ा गया है। चैतन्य केन्द्रों की अवधारणा जैन ध्यान-पद्धति का मौलिक अवदान है जिसकी अभिव्यक्ति ‘करण’, मर्म-स्थान, सन्धि आदि शब्दों द्वारा प्राचीन जैन साहित्य में हुई है।

प्रेक्षाध्यान की वैज्ञानिक पद्धति ने हजारों साधकों को अध्यात्म-जागरण के लिए उत्प्रेरित किया है तथा जीवन के रूपान्तरण की दिशा प्रदान की है।

तेरापंथ धर्मसंघ का समूचा वातावरण आज प्रेक्षाध्यान और योग-साधना से सम्बन्धित अध्ययन और अनुसंधान से ओतप्रोत है। उसी से प्रेरित

तेरह

होकर मेरे चरण इस दिशा में आगे बढ़े हैं। इसलिए इस सारे कार्य को मैं वैयक्तिक नहीं मानकर संघीय उपलब्धि का ही अंग मानता हूँ।

दिनांक : १ मई ६१

बालोतरा

राजस्थान

मुनि राकेश कुमार

जैन योग पारिभाषिक शब्दकोश

अ

- अंशावतार**—एक ही आत्मा में अंश रूप में अनेक भावों की विद्यमानता ।^१
- अकाम-निर्जरा**—सम्यक्त्व-रहित प्राणियों द्वारा कर्म-निर्जरण की अभिलाषा के बिना भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि कष्ट सहने से होने वाली निर्जरा, जहां कर्म-विपाक होने पर कर्म-पुद्गल आत्मप्रदेशों से पृथक् हो जाते हैं—झड़ जाते हैं ।^२
- अक्रियाभोग**—क्रिया और भोग का अविषय ।^३
- अक्षय-स्थान**—जीवन का चरम साध्य, शाश्वत शांतिमय स्थान, मोक्ष ।^४
- अक्षरोध**—इन्द्रिय-विषयों का निरोध, नियन्त्रण ।^५

१. अंशावतार एकस्य कुत एकत्वहानितः ।

निरंश एव इत्युक्तः स चाद्वैतनिबन्धनम् ॥ —यो. बि. ५१४

यदि अंशावतार—अंश के रूप में ब्रह्म का अवतीर्ण होना माना जाए तो आत्मा को एक मानने का सिद्धान्त व्याहत होता है । (क्योंकि) अद्वैतवेदान्त के अनुसार आत्मा निरंश—अंशरहित या अखण्ड है । अद्वैतवादी दर्शन का यही आधार है ।

२. ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिनाम् ।

कर्मणां फलवपाको यदुपायात्स्वतोऽपि च ॥

—यो. शा. ४.८७

सकाम निर्जरा सम्यक्दृष्टि जीवों के होती है तथा अकाम निर्जरा सभी प्राणियों के होती है ।

फलों के उपाय द्वारा तथा स्वतः परिपाक की तरह कर्मों का परिपाक भी उपाय द्वारा तथा स्वतः दो प्रकार से होता है ।

३. स. श. ६७

४. यो. प्र. ४६

५. अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत् ।

अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते ॥ —ज्ञाना. २०.१

जो जितेन्द्रिय नहीं है, वह कषायाग्नि को शान्त करने में सक्षम नहीं होता । अतः क्रोध आदि कषायों के विजयार्थ इन्द्रिय-निरोध इन्द्रिय-विजय प्रशस्य है—विशेष रूप से आदेय है, ग्राह्य है (आवश्यक है) ।

अक्ष-वृत्ति—इन्द्रियों की अपनी-अपनी प्रवृत्ति ।^१

अग्निबीज—आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार आग्नेय मण्डल में स्थापित 'रेफ' रूप अग्नि-बीज ।^२

अगुरुलघुगुणता—मुक्तात्मा में रूई की भांति हल्केपन और लोहे की भांति भारीपन का अभाव ।^३

अचल-स्थिति—अविनाशी स्वरूपमय ।^४

अचिन्त्यशक्तियोग—जब योगी के जीवन में अहिंसा आदि यम सर्वथा सिद्ध हो जाते हैं, तब योगी में अपने आप एक दिव्य शक्ति का आविर्भाव हो जाता है । उसके व्यक्तित्व में सहज ही ऐसी विभूति—चमत्कृति आ जाती है कि कुछ कहे बिना ही, किये बिना ही समीपस्थ प्राणियों पर उसका अमिट प्रभाव पड़ता है । वे अपने आप बदल जाते हैं । उनकी हिंसा आदि दूषित वृत्तियां स्वयं मिट जाती हैं । महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र के द्वितीय पाद में इस सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है ।^५

अच्छिन्न—वह यौगिक साधना-क्रम, जिसमें बीच-बीच में छेद, अवरोध या रुकावट नहीं आती ।^६

१. यो. मा. ३

२. ऊर्ध्वज्वालान्वितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम् ।

स्फुर्लिगपिंगं तद् बीजं ज्ञेयमाग्नेयमण्डलम् ॥

—यो. शा. ५.४६

आग्नेय-मण्डल ऊपर की ओर बढ़ती ज्वालाओं से युक्त, भयावह, त्रिकोण, स्वस्तिक-चिह्न सहित, अग्नि-स्फुर्लिग के सदृश पीत-रक्त वर्णमय एवं अग्नि-बीज रेफ से युक्त होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

३. यो. मा. ३६

४. स. श. ६

५. परार्थसाधकं त्वेतत् सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः ।

अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

—यो. दू. स. २१८

शुद्ध अन्तरात्मा की अचिन्त्य—अनिर्वचनीय शक्ति के योग से जहां परार्थ-साधन—औरों के उपकार की प्रवृत्ति रहती है, वह चौथा—सिद्धि यम है ।

६. तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया ।

अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ॥

—यो. बि. ३३

अच्युत—अपने शुद्ध स्वरूप से अविचलित ।^१

अज्ञ—जानने योग्य पदार्थों के जानने में अक्षम, असमर्थ ।^२

अणिमादि—अणिमा आदि आठ सिद्धियां, जो इस प्रकार हैं—

अणिमा—अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना ।

लघिमा—देह को अत्यन्त लघु या हलका बना लेना ।

महिमा—शरीर को अत्यधिक बड़ा बना लेना ।

गरिमा—देह को अत्यन्त भारी बना लेना ।

प्राप्ति—किसी भी अभीप्सित भौतिक पदार्थ को संकल्प मात्र से हस्तगत कर लेना ।

प्राकाम्य—भौतिक पदार्थ से सम्बद्ध कामना या इच्छा का किसी बाधा तथा आयास के बिना पूर्ण हो जाना ।

वशित्व—भूतपंचक तथा तदुद्भूत पदार्थों का वश में या अधिकार में आ जाना ।

ईशित्व—भौतिक पदार्थों को भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित करने का, उन पर शासन करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेना ।^३

यथाविधि यथावत् रूप में योग का अनुसरण, अभ्यास तात्त्विक योग है । केवल लोक-व्यपेक्षा—लोकरंजन या प्रदर्शन हेतु योग का परिग्रहण अतात्त्विक योग है । जो लक्ष्य प्राप्त होने तक अविच्छिन्न—विच्छेदरहित बना रहे, वह सानुबंध योग है । जिसमें अभ्यास तथा साधना के अन्तर्गत बीच बीच में विच्छेद, विघ्न या गतिरोध आता रहे, वह निरनुबंध योग है ।

१. आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।

तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥

—स. श. ७६

२. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके ।

दाह्ये ऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः ॥

—यो. बि. ४३२

यदि बाधक हेतु न हो तो ज्ञ—जानने में समर्थ पुरुष, ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थों को जान लेने में क्यों असमर्थ हो ? यदि प्रतिबन्धक कारण न हो तो अग्नि जलाने योग्य पदार्थों को कैसे न जलाए ?

३. यो. श. ८४

अतत्त्वाभिनिवेश—मिथ्या तत्त्व में अभिनिवेश—दुराग्रह ।^१

अतात्त्विक—केवल लोकरंजन हेतु योग का प्रदर्शन अतात्त्विक योग कहा जाता है ।^२

अतादात्म्य—आत्मा और पर-पर्यायों के तादात्म्य—सामरस्य, ऐक्य का अभाव ।^३

अतिक्रान्तगोचर—योगी का आत्मशक्ति के जागरण या प्रबलता के कारण वह उत्साहपूर्ण योगाभिक्रम, जो शास्त्रीय विधि-विधान से अतीत होता है, अतिक्रान्तगोचर कहा जाता है । वैसा सामर्थ्य-योग में होता है ।^४

अतिप्रसंग—विवक्षित विषय को छोड़कर बीच में ही दूसरे विषय में चले जाना अतिप्रसंग नामक दोष है ।^५

अतिशयज्ञानी—विशिष्ट या असाधारण ज्ञानयुक्त । आचार्य हरिभद्र ने 'योग-शतक' में सर्वज्ञ के अर्थ में इसका प्रयोग किया है ।^६

१. प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा ।

अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥ —यो. बि. ७३

भव-भ्रमण की लम्बी शृंखला, आत्म-परिणामों में अत्यधिक मलिनता, असत् तत्त्व में दुराग्रह के कारण (पूर्वोक्त साधना योग्य पुरुषों से इतर) व्यक्ति अध्यात्म को प्राप्त नहीं कर सकता ।

२. तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथाऽपरः ।

साम्प्रवोऽनाम्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥ —यो. बि. ३२

(एक अपेक्षा से) योग के तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, साम्रव एवं अनाम्रव के रूप में छः भेद हैं ।

३. अ. सा. २.६२

४. शास्त्र-सन्दर्शतोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।

शक्त्युद्रेकाद्विरोधेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ —यो. दृ. स. ५

शास्त्र में जिसका मार्ग व्याख्यात हुआ है, जिसमें शक्ति-जागरण की प्रबलता रहती है, अतएव जो शास्त्र से भी अतीत है, वह सामर्थ्य-योग कहा जाता है, जो उत्कृष्ट योग है ।

५. यो. दृ. स. १६२

६. एयं पुण निच्छयओ अइसयनाणी वियाणई नवरं ।

इयरो वि य लिगेहि उवउत्तो तेण भणिएणं ॥ —यो. श. १२

आत्मा तथा कर्म के संबन्ध के विषय में विशिष्ट ज्ञानी या केवलज्ञानी—सर्वज्ञ ही निश्चित रूप में जानते हैं । अन्य—असर्वज्ञ भी सर्वज्ञ-प्रतिपादित शास्त्र-ज्ञान के आधार पर तथा अनुभव आदि साधनों द्वारा उस संबन्ध में एक सीमा तक जानता है ।

अतिशयवद्वपु—सर्व-साधारण से विशिष्ट, अनन्यलभ्य विशेषताओं से युक्त ।^१

अतीन्द्रियज्ञप्ति—इन्द्रियातीत पदार्थों का साक्षात् ज्ञान ।^२

अतीन्द्रितार्थसिद्धि—इन्द्रियों द्वारा जिन्हें गृहीत किया जाना शक्य नहीं है, वैसे आत्मा, धर्म, पुनर्जन्म आदि पदार्थों की सिद्धि, जो अनुभूति तथा श्रद्धा से संभव है, शुष्क तर्क से नहीं ।^३

अतीतार्थयायी—संसार से अतीत—जन्म-मरण के पारगामी—मोक्षगत तथा सर्वज्ञ ।^४

अत्यक्ष—इन्द्रियों से अगोचर—अगम्य ।^५

अत्यक्षबोध—इन्द्रियनिरपेक्ष, आत्म-सापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान ।^६

१. यो. मा. २७

२. अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिस्ततः सद्देशनागमः ।

नान्यथा छिन्नमूलत्वादेतदन्यत्र दर्शितम् ॥

—यो. बि. ४२६

सर्वज्ञता से अतीन्द्रिय—इन्द्रियातीत ज्ञान का उद्भव होता है । उससे धर्म-देशना एवं आगम फलित होते हैं । यदि ऐसा न हो तो धर्म-देशना और आगम का मूल ही अपगत हो जाए ।

प्रस्तुत विषय अन्यत्र चर्चित है ।

३. अतीन्द्रियार्थसिद्धयर्थं यथालोचितकारिणाम् ।

प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित् ॥

—यो. दृ. स. ६८

तार्किक जन आत्मा, परलोक आदि अतीन्द्रिय—इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा नहीं जाने जा सकने योग्य पदार्थों को तर्क से सिद्ध करना चाहते हैं । वास्तव में ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं (इन्हें तो श्रद्धा और अनुभव से आत्मसात् किया जा सकता है) ।

४. यो. दृ. स. १११

५. चिद्रूपानन्दमयो निःशेषोपाधिर्वर्जितः शुद्धः ।

अत्यक्षोऽनन्तगुणः परमात्मा कीर्तितस्तज्ज्ञः ॥

—यो. शा. १२.८

चिन्मय, आनन्दमय, समस्त उपाधिर्वर्जित, शुद्ध, इन्द्रियातीत, अनन्तगुणमय आत्मा परमात्मा कहलाता है ।

६. ज्ञाना. २ अशरण भावना १६

- अत्यन्तनिर्वृत**—सिद्धत्वरूप अत्यन्त आनन्दमय, सर्वथा प्रशान्तिसंभृत ।^१
- अदृष्टप्रवर्तन**—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा अप्रतीति योग्य तत्त्व में प्रवृत्ति ।^२
- अद्वैतनिबन्धन**—एक ही आत्मा या केवलाद्वैत की वास्तविकता का अस्वीकार ।^३
- अधरप्राणायाम**—बाहर की वायु को खींचकर उसे ऊपर से नीचे की ओर ले जाना, धारण करना, कतिपय आचार्यों के अनुसार अधर प्राणायाम कहा जाता है ।^४
- अधर्म**—जैन दर्शन-सम्मत छः द्रव्यों में दूसरा द्रव्य, जीव एवं पुद्गल की स्थिति में जिसका साहाय्य अपेक्षित है ।^५
- अधिमुक्ति**—साधना का परिपक्व-बोध-जनित उच्च स्थिति, जिससे सुदृढ़ आस्था मूलक मनःस्थिति में आने की क्षमता प्राप्त होती है ।^६
- अध्यवसान**—एकाग्रता का आलम्बन ।^७

१. अणोरपि च यः सूक्ष्मो महानाकाशतोऽपि च ।

जगद्वन्धः स सिद्धात्मा निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः ॥

—ज्ञाना. ३१.२८

सिद्धात्मा, जो परमाणु से भी सूक्ष्म तथा आकाश से भी महान् है, कृतकृत्य है, निरतिशय आनन्दमय है, जगत् के लिए वन्दनीय है ।

२. दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम् ।

असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं बाध्यसूचकम् ॥

—यो. बि. २४

जो शास्त्र दृष्ट—प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा प्रतेतव्य पदार्थ भी सिद्ध नहीं कर सकते (जिनका तत्त्व-निरूपण प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि के विरुद्ध है), उनका श्रद्धापूर्वक अवलम्बन कर अदृष्ट में प्रवृत्त होना वैसा करने वालों की अन्धश्रद्धा-जनित दासता का प्रतीक है ।

३. यो. बि. ५१४

४. आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।

उत्तरः स समाख्यातो विपरीतस्ततोऽधरः ॥

—यो. शा. ५. ६

बहिर्वर्ती वायु का पानकर, उसे ऊपर की ओर खींचकर हृदय आदि में धारण करना—स्थापित करना “उत्तर” प्राणायाम कहा गया है । इसके विपरीत—वायु को ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर धारण करना—स्थापित करना “अधर” प्राणायाम कहा गया है ।

५. ध्या. स्त. ५८

६. यो. बि. ११७

७. ध्या. श. २

अध्यात्मप्रसाद—मनः परिणति या स्वानुभूति की शुद्धता ।^१

अध्यात्मसाम्राज्य—आत्मसम्पत् रूप परम ऐश्वर्य ।^२

अनक्षर—अक्षय, अविनश्वर, शाश्वत आत्म-संवेदन ।^३

अनक्षरता—पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत पदगत अक्षरों के चिन्तन में एक विशेष प्रक्रिया या अभ्यास-विधि, जहां अक्षर अपनी अक्षरात्मक आकृति से अतीत हो जाएं ।^४

अनध्यवसित—सूने मन से अज्ञात, अनुपलक्षित ।^५

अनध्यवसाय—समुचित अध्यवसाय का अभाव, क्रिया में मन के उपयोग की अव्याप्ति ।^६

अनन्तकार्य—कन्द, मूल आदि, जिनमें एक-एक कलेवर में अनन्त जीव होते हैं ।^७

१. अ. सा. २.८०

२. अ. सा. ५.५५

३. यो. प्र. १०६

४. रेफबिन्दुकलाहीनं शुभ्रं ध्यायेत्ततोऽक्षरम् ।

ततोऽनक्षरतां प्राप्तमनुच्चार्य विचिन्तयेत् ॥ —यो. शा. ८.२४

पहले रेफ, बिन्दु और मात्रा रहित “ह” वर्ण का ध्यान करना चाहिए । फिर उसी “ह” के अनक्षरता-प्राप्त—जिसका उच्चारण नहीं किया जा सके, ऐसे स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए ।

५. अ. सा. ३.६६

६. इहामुत्र फलापेक्षा भवाभिष्वङ्ग उध्यते ।

तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥ —यो. बि. १५१

इस लोक में तथा परलोक में फल प्राप्त करने की इच्छा रखना (वैसी इच्छा लिये कर्म करना) भवाभिष्वङ्ग कहा जाता है । (समुचित, अपेक्षित) अध्यवसाय का अभाव अनाभोग कहा जाता है ।

७. मद्य मांस नवनीतं मधूदुंबरपञ्चकम् ।

अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ॥

आमगोरससंपुक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम् ।

दध्यर्हद्वितीयान्तं क्वथितान्नं विवर्जयेत् ॥ —यो. शा. ३.६, ७

(भोगोपभोग व्रत के अन्तर्गत) मदिरा, मांस, मक्खन, मधु, गूलर आदि पांच प्रकार के फल, अनन्तकाय कन्द, मूल आदि, अज्ञात फल, रात्रि-भोजन, कच्चे दूध, दही व छाछ के साथ दाल का अशन, बासी भात, दो दिन बाद के दही एवं क्वथित—उबाले हुए अन्न का परित्याग करना चाहिए ।

अनन्तरक्षणभूति—विगत—पिछले, अनागत—अगले क्षण पदार्थ का अरितत्व स्वीकार न कर उसे क्षणवर्ती मानना ।^१

अनन्तरभावित्व—पदार्थों के पूर्वभाव तथा उत्तरभाव का परस्पर क्रमबद्ध सम्बन्ध ।^२

अनन्तरज्ञ—आत्मा और देह के अन्तर-भेद या संपूर्णतः भिन्नता को नहीं जानने वाला ।^३

अनन्तानन्तधीशक्ति—अनन्तानन्त ज्ञानरूप शक्तियुत (आत्मा) ।^४

अनन्तानुबन्धी—प्रत्येक कषाय के चार-चार भेदों में चौथा । इसकी विद्यमानता में सम्यक् दर्शन नहीं होता ।^५

अनपोहन—कार्य-निष्पत्ति में वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त अन्य तत्त्व का कारण रूप में अस्वीकार ।^६

१. यो. दृ. स. १६३

२. भावाविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः ।

स चानन्तरभावित्वे हेतोरस्यानिवारितः ॥

—यो. बि. ४६६

पदार्थों में पर्यायों का अविच्छेद—शृंखलाबद्ध क्रम उनकी अन्वय-संगति का कारण है । उसीसे पदार्थों के पूर्ववर्ती पर्याय तथा उत्तरवर्ती पर्याय परस्पर संयुक्त (संबद्ध) बने रहते हैं ।

३. अनन्तरज्ञः सन्धत्ते, दृष्टि पङ्गोर्यथाऽन्धके ।

संयोगाद् दृष्टिर्मङ्गोऽपि, सन्धत्ते तद्वदात्मनः ॥

—स. श. ६१

जो अन्तर—भेद नहीं जानता, वह अन्ध और पङ्गु के पारस्परिक संयोग के कारण पङ्गु की दृष्टि—देखने की शक्ति को अन्ध की दृष्टि समझने लगता है । उसी प्रकार जिसे शरीर और आत्मा के अन्तर का बोध नहीं होता, दोनों की सांयोगिकता के कारण वह आत्मदृष्टि को—आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि स्वभाव को शरीर का स्वभाव—धर्म मानने लगता है ।

४. स. श. ६

५. यो. शा. ४.६-८

६. यो. बि. ७८

अनर्थदण्ड—उक्त हेतुओं के बिना, निष्प्रयोजन की जाने वाली हिंसा ।

अनर्थदण्ड चार प्रकार का माना गया है—

१. आर्त, रौद्र आदि दूषित, अशुभ ध्यान ।
२. पाप-कर्मों का उपदेश ।
३. हिंसा में प्रयोज्य अस्त्र-शस्त्रादि उपकरणों का दान ।
४. प्रमादपूर्ण आचरण ।^१

अनवच्छिन्नभावना—अवच्छेद या व्यवधानरहित, अनवरत परमात्मभाव में तन्मयता ।^२

अनवस्थित—स्थिरतारहित, कालान्तर में रूपात्मक परिवर्तनशीलतायुक्त ।^३

अनात्मचेता—देह को, जिसमें संसारावस्था में आत्मा अवस्थित रहती है, आत्मा नहीं मानने वाला ।^४

१. आर्तरौद्रमपध्यानं पापकर्मोपदेशिता ।

हिंसापकारि दानं च प्रमादाचरणं तथा ॥ —यो. शा. ३.७३

आर्त, रौद्र आदि अपध्यान (पापमूलक एकाग्र चिन्तन), पाप-कर्मों का उपदेश, हिंसा के उपकरण—शस्त्र आदि साधनों का दान तथा प्रमादपूर्ण आचरण—ये अनर्थ-दण्ड के चार भेद हैं ।

२. इत्थं यत्राऽनवच्छिन्नभावनाभिर्भवच्युतम् ।

भावयत्यनिशं ध्यानी तत्सवीर्यं प्रकीर्तितम् ॥ —ज्ञाना. ३१.४२

जो ध्यानयोगी अनवच्छिन्न—अभग्न, अखण्ड भावना पूर्वक यथाविधि अर्हनिश संसारातीत परमात्मा का ध्यान करता है, परमात्मभाव से अनुभावित होता है, उसका वह ध्यान सवीर्य ध्यान कहा गया है ।

३. दोसम्मि उ जीवाणं विभिन्नयं एव पोग्गलाणं च ।

अणवट्ठियं परिणइं विवागदोसं च परलोए ॥ —यो. श. ७०

द्वेष-भाव उदित होने पर साधक इस प्रकार चिन्तन करे—जीव और पुद्गल परस्पर भिन्न हैं । पुद्गलों की परिणति—परिणमन अस्थिर है । द्वेष का विपाक—फल परलोक में बहुत कष्टप्रद है ।

४. पइयेन्द्रन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ॥

अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥

अनात्मवित्—आत्मभाव से अज्ञ ।^१

अनात्मदर्शी—आत्मोद्दिष्ट दृष्टिरहित ।^२

अनादिसिद्ध—परकर्तृत्व से विवर्जित, अनादि काल से अस्तित्वयुक्त ।^३

अनाभोग—किसी वस्तु या कार्य को बुद्धि द्वारा स्वायत्त करना आभोग है ।
वैसा न होना अनाभोग कहा जाता है । आचार्य हरिभद्र के अनुसार
तारा दृष्टि में स्थित पुरुष के अनाभोग-दशा में भी अनजाने में कोई
औचित्यरहित क्रिया नहीं होती ।^४

अनारोपसुख—पर-पदार्थ से असम्बद्ध, आत्मानुभूतिरूप सुख ।^५

१. नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्यनात्मवित् ।

सर्वावस्थामु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः ॥

—ज्ञाना. ३३. ७६

जो अनात्मवित् है—जिसे आत्मा का यथार्थ बोध नहीं है,
वह पर्वत, ग्राम आदि में अपने आवास का विकल्प लिये रहता है ।
किन्तु निभ्रान्ति आत्मवेत्ता सभी स्थितियों में अपने आप में ही अपना
आवास मानता है ।

२. ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शनाम् ।

दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्ताऽऽत्मैव निश्चलः ॥

—स. श. ७३

अनात्मदर्शी—जिनकी दृष्टि आत्मा पर नहीं होती (बाह्य
क्षेत्र पर होती है), वैसे साधक ग्राम या वन में आवास करने जैसे
विकल्पों में उलझे रहते हैं । जो दृष्टात्मा हैं—जिन्होंने आत्म-दर्शन
किया है, उनका आवास तो एक मात्र निश्चल—निर्विकल्प आत्मा
में ही होता है ।

३. स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतैः पदार्थैश्चेतनेतरैः ।

सम्पूर्णोऽनादिसंसिद्धः कर्तृव्यापारवर्जितः ॥

—ज्ञाना. ३६. २

यह लोक स्थिति, उत्पत्ति तथा व्यय—क्षय (उत्पाद-व्यय-
ध्रौव्य) युक्त चेतन, अचेतन पदार्थों से परिपूर्ण है (भरा है),
अनादिसिद्ध है—अनादिकाल से चला आ रहा है, कर्तृ-व्यापार-
वर्जित है—किसी कर्ता द्वारा रचित नहीं है ।

४. यो. दृ. स. ४५

५. ज्ञा. सा. मोहत्यागाष्टक ७

अनालम्बन—ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का आलम्बन—आधार या सहारा न लेना अनालम्बन है। ध्यान की यह स्थिति निर्विकल्प, चिन्मात्र या समाधि रूप है। इसे अनालम्बन-योग कहा गया है।^१

अनास्रव—जिससे जन्म-मरण का प्रवाह रुकता है, वह अनास्रव-योग कहा गया है।^२

अनाहतनाद—ब्रह्मरन्ध्र-वर्ती, सूक्ष्म अनुभूति द्वारा ज्ञेय, सहज, दिव्य ध्वन्यात्मक परम आनन्दमयी अभिव्यंजना।^३

अनिदर्शन—साक्षात् हेतुता का अभाव।^४

अनिवृत्ताधिकारा—जब तक पुरुष पर आच्छन्न प्रकृति का अधिकार सिमट नहीं जाता, तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष प्रकृति के आवरण से पृथक् हो जाने की स्थिति लाने में तत्पर नहीं हो जाता, तब प्रकृति अनिवृत्ताधिकारा कही जाती है।^५

१. आलंबणं पि एयं रूचीमरूची य इत्थ परमुत्तो ।

तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमोऽणालंबणो नाम ।

—यो. बि. १६

(ध्यान के दो भेद हैं—आलम्बन तथा अनालम्बन) ।

आलम्बन—ध्येय मूर्त एवं अमूर्त के रूप में दो प्रकार का है ।

अनालम्बन ध्यान—तद्गुण परिणति—रूप है—ध्याता का ध्येय के गुणों में परिणमन है, वह सूक्ष्म है ।

२. यो. बि. ३२

३. (क) यो. प्र. ११५

(ख) ह. यो. प्र. ४.७०

४. मुक्ताविच्छापि यच्छलाध्या तमः क्षयकरी मता ।

तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यदः ॥

—यो. बि. २१६

मोक्ष की इच्छा रखना प्रशंसनीय है। वह अज्ञान रूप अन्धकार का नाश करती है, ऐसा माना गया है। किन्तु मोक्ष सम्पूर्णतः श्रेयोमय, शुद्धिमय है। अतः मोक्ष की इच्छा से (योग बिन्दु श्लोक २१२ में वर्णित) गिरि-पतन आदि अनुष्ठान मोक्ष के हेतु नहीं हैं ।

५. अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।

न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥ —यो. बि. १०१

जब तक पुरुष (आत्मा) पर व्याप्त प्रकृति का अधिकार सर्वथा निवृत्त नहीं हो जाता—बिलकुल मिट नहीं जाता, तब तक पुरुष में तत्त्वमार्ग की जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं होती ।

अनिवृत्ति—अनिवृत्तिकरण, ग्रन्थि-भेद की अवस्थिति में उत्पन्न उज्ज्वल आत्म-परिणाम, जो सम्यक्त्व-प्राप्ति से संपृक्त होता है ।^१

अनीहा—निःस्पृहता, आकांक्षाशून्यता ।^२

अनुग्राहक—जिसके अनुग्रह, प्रेरणा या उपदेश से आत्मा सत्योन्मुख बने ।^३

अनुद्वेग—उद्वेगरहित या असन्तुलित मनोदशा का अभाव । वैसा होने पर करणीय के प्रति सहज उत्साह तथा तत्त्वोन्मुख जिज्ञासा पैदा होती है ।^४

अनुपहतमति—संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित बुद्धि ।^५

अनुप्रेक्षा—पश्चात्-प्रेक्षण, भावना, अनुचिन्तना ।^६

अनुबन्धफलत्व—एक के बाद एक उत्तम फल देते जाने की क्षमता ।^७

१. यो. बि. २६४

२. क्षान्त्या क्रोधो मृदुत्वेन मानो मायाऽऽर्जवेन च ।

लोभश्चानीहया जेयाः कषाया इति संग्रहः ॥

—यो. शा. ४.८७

क्रोध को क्षमा द्वारा, मान को मृदुता द्वारा, माया को ऋजुता—सरलता द्वारा तथा लोभ की अनीहा—अनिच्छा (निःस्पृहता) द्वारा जीतना चाहिए ।

३. यो. बि. १७-१८

४. तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः ।

अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥

—यो. दृ. स. ४१

मित्रा दृष्टि की अपेक्षा तारा दृष्टि में बोध किंचित् स्पष्ट होता है । वहाँ योग का दूसरा अंग नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं परमात्म-चिन्तन) फलित होता है । हितारम्भ—आत्मकल्याण-कारी प्रवृत्ति में अनुद्वेग—उद्वेग का अभाव—उत्साह बना रहता है । तत्त्व-ज्ञान में जिज्ञासा रहती है ।

५. यो. मा. २६

६. ध्या. श. २

७. ज्ञानपूर्वाणि तान्येव मुक्त्यंगं कुलयोगिनम् ।

श्रुतशक्तिसमावेशादनुबन्धफलत्वतः ॥

—यो. दृ. स. १२५

कुलयोगी—जिन्हें पूर्व जन्म से योग के संस्कार प्राप्त हैं, उनके लिए ज्ञानपूर्वक आचरित कर्म मुक्ति के अंग हैं, साधन हैं । उनमें श्रुत-शक्ति—आप्तवचनात्मक शास्त्र-ज्ञान का बल जुड़ा है, अतः वे (कर्म) उत्तम फल के अनुबन्धक हैं—श्रेष्ठफलप्रद हैं ।

अनुबन्ध-व्यवच्छेद—संसारानुबन्ध या भव-परम्परा का उच्छेद, जन्म-मरण से उन्मुक्तता ।^१

अनुभवयुक्ति—आत्मानुभूति तथा तर्क या न्याय ।^२

अनुभाव—अन्तःस्थिति के ज्ञापक या सूचक चिह्न अनुभाव हैं । उदाहरणार्थ—
इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि, जो योगविशिका के अनुसार स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन योग के भेद हैं, के सध जाने पर अनुकम्पा—दुःखपीडित प्राणियों को देखकर उन पर अनुकम्पा—दया, निर्वेद—आत्मस्वरूप का बोध हो जाने से संसार से विरक्त भाव, संवेग—तीव्र मोक्षाभिलाषा तथा प्रशम—क्रोध, विषय-वासना आदि का उपशम—ये अनुभाव स्वयं जीवन में उद्भासित हो जाते हैं ।^३

१. वशिता चैव सर्वत्र भावस्तमित्यमेव च ।

अनुबन्ध-व्यवच्छेद उदकोऽस्येति तद्विदः ॥

—यो. वि. ३६३

ध्यान-सिद्धि हो जाने पर सहज ही वशिता—आत्म-नियमन, जितेन्द्रियता, मनःस्थिरता तथा अनुबन्ध-व्यवच्छेद—संसारचक्र गत भव-परंपरा का नाश—जन्म और मृत्यु से मुक्ति फलित होती है ।

२. चित्तेज्जा मोहम्मी ओहेणं ताव वत्थुणो तत्तं ।

उप्पाय-वय-ध्रुवजुवं अणुहव-जुत्तीए सम्मं ति ।

—यो. श. ७१

मोह-भाव उदित होने पर साधक अनुभवपूर्वक, युक्तिपूर्वक सम्यक् रूप में वस्तु-तत्त्व पर चिन्तन करे कि वस्तु (पदार्थ) का स्वरूप उत्पत्ति, नाश और ध्रुवता पर अवस्थित है । (जिसके रूपात्मक अस्तित्व में स्थिरता ही नहीं है, उस पर मोह क्यों रखा जाए ?)

३. अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइ तह य पसम ति ।

एएसि अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं ॥

—यो. वि. ८

इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता और सिद्धि योग के सध जाने पर क्रमशः अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग एवं प्रशम—सहज ही ये अनुभाव प्रकट होते हैं ।

अनुभूतवर्तमान—जो भी भूतकाल होता है, वह पूर्व क्षण में वर्तमान रह चुकता है। अतएव उसे अनुभूतवर्तमान कहा जाता है। पूर्वक्षणवर्ती वर्तमानत्व को छोड़ना, उत्तरक्षणवर्ती वर्तमानत्व में पूर्वक्षणवर्ती वर्तमानत्व को अतीतत्व के रूप में संगृहीत करना, यह जो क्रम है, इसकी अपेक्षा से वह सादि है, प्रवाहरूप से अनादि है। इस तथ्य को व्यक्त करने हेतु आचार्य हरिभद्र ने इस पद का भूतकाल के विशेषण के रूप में प्रयोग किया है।^१

अनुष्ठान—गुरु, देव आदि का सत्कार, व्रत, त्याग-प्रत्याख्यान, सदाचार का परिपालन।^२

अनुलोत—लोकोन्मुख-प्रवहणशील भावधारा।^३

अन्तर्जल्पसंपृक्त—आभ्यन्तर संकल्प-विकल्परूप वचन-व्यापार से युक्त।^४

अन्तर्विज्ञान—देह और आत्मा के परस्पर सर्वथा भिन्न होने की प्रतीति, भेद-विज्ञान।^५

१. अणुभूयवत्तमाणो सव्वोवेसो पवाहोऽण्णाइ ।

जह तह कम्मं नेयं ऋयक्तं वत्तमाणसमं ॥

—यो. श. ५५

जो भी भूतकाल है, कभी वह वर्तमान का अनुभव कर चुका है। वर्तमान की परिणति भूत में हुई, इस दृष्टि से वह आदि सहित है तथा प्रवाह रूप में आदि रहित है। कर्म की भी यही स्थिति समझनी चाहिये। वह कर्ता द्वारा किए जाने के कारण वर्तमान के समान आदि-सहित है तथा प्रवाह के रूप में आदि-रहित है।

२. यो. बि. १५४

३. ज्ञा. सा. लोकसंज्ञात्यागाष्टक ३

४. धदन्तर्जल्पसम्पृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।

मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥

—स. श. ८५

चित्त में उत्पन्न होते अन्तर्जल्प—विविध प्रकार के ऊहापोह, उत्प्रेक्षा-जाल—कल्पनाओं के जाल—संकल्प-विकल्प आत्मा के लिए दुःख के मूल कारण हैं। परमपद—अपने चैतन्य-स्वरूप शुद्धात्मभाव में अवस्थित होना ही इनके नाश का उपाय है, जो श्रेयस्कर है। महापुरुषों ने ऐसा उपदिष्ट किया है।

५. स. श. ७६

अन्तरात्मा—जो सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य से युक्त है, नय व निक्षेप के आधार पर नौ पदार्थ, छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय एवं शरीर और आत्मा के भेद को यथार्थतः जानता है ।^१

अन्तस्तत्त्वसंशुद्धि—अन्तर्मन का संशोधन, सम्यक् परिष्कार ।^२

अन्यजन्मस्वभावत्व—अन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव लिए हुए ।^३

अन्यमुद्—योग साधना के अतिरिक्त अन्य विषयों में प्रमोद या हर्ष का अनुभव करना ।^४

अन्ययोगप्रविगमकरण—अन्ययोग—बादर या स्थूल योगों—प्रवृत्तियों का प्रविगमकरण—विनाश करना, मिटा देना ।^५

अन्ययोगव्यवच्छेद—वीतराग-भाषित विशुद्ध अहिंसा आदि का इतरमत-निरूपित अहिंसा आदि से पार्थक्य ।^६

१. ध्या. स्त. ३८, ३९

२. नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत् संक्लेशहेतवः ।

तथाऽन्तस्तत्त्वसंशुद्धेरुदग्रेषुभभावतः ॥ —यो. बि. १७२

अन्तर्मन की शुद्धता तथा स्फूर्तिमय शुभ भावों के उत्थान से कर्म पुद्गल प्राणी के लिए पूर्ववत् (जब ऐसी स्थिति नहीं थी, तब की तरह) कष्टप्रद नहीं होते ।

३. यो. बि. ४७०

४. कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।

अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदया ॥ —यो. वृ. स. १६२

कान्ता दृष्टि में पूर्ववर्णित दृष्टियों के गुण तो विद्यमान रहते ही हैं, इसमें स्थित योगी में यह एक अद्भुत विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि उसके ये गुण सबको बड़े प्रिय लगते हैं ।

इसमें योग का छठा अंग धारणा सिद्ध होता है । उस साधक का मन आत्मानुशीलन के अतिरिक्त और कहीं रस नहीं लेता । वह मीमांसा—चिन्तन, मनन, निदिध्यासन में लीन रहता है, जो आत्मोत्कर्ष का हेतु है ।

५. यो. मा. ३२

६. अन्ययोगव्यवच्छेदादहिंसा श्रीजिनागमे ।

परैश्च योगमार्गेण कीर्तिता सा यदृच्छया ॥ —ज्ञाना. ८.५६

श्रीवीतराग-प्ररूपित दर्शन में अहिंसा का जो विवेचन है, वैसा अन्य मतों में नहीं है । (जैन दर्शन में हिंसा का सर्वथा निषेध है, अहिंसा संपूर्णतः ग्राह्य है ।) अन्य मतों में उसका योग मात्र है—कहीं अहिंसा का विधान है, तो अन्यत्र हिंसा का भी ।

अन्वयगोचर—पूर्वपर्यायनिवृत्ति-अपरपर्यायोत्पत्ति मूलक क्रमगम्य ।^१

अन्वयभाव—पदार्थों की एक दूसरे से क्रमबद्ध संगति ।^२

अपध्यान—आत्मोज्ज्वलता को दूषित या कलुषित करनेवाला ध्यान, जो राग, द्वेष, लोभ, काम, क्रोध, मोह आदि से जुड़ा होता है ।^३

अपरात्मधी—पर—देह में आत्मबुद्धि नहीं रखनेवाला ।^४

अपवर्ग—सर्वकर्मक्षयजनित मुक्तावस्था ।^५

अपाय-परिहार—दृष्टि आदि में दोष न रहना । ऐसा होने से साधक प्रणिधानयुक्त—सावधानतायुक्त होता है । उसकी क्रिया-प्रक्रिया में त्वरा—उत्तावलापन नहीं होता ।^६

१. अ. सा. ४.४०

२. यो. बि. ४६८

३. एएसिं पि य पायं पज्झाणाजोगओ उ उच्चियम्मि ।

अणुदृठाणम्मि पविस्सी जायइ तह सुपरिसुद्धिं त्ति ॥

—यो. श. २३

अपध्यान—दूषित ध्यान के न होने के कारण योग्य साधकों की अपने अपने समुचित अनुष्ठान में, प्रवृत्ति—योगाभ्यास आदि कार्य सुपरिशुद्ध रूप में संचालित होते हैं ।

४. स. श. ५७

५. दुःस्थां भवस्थितिं स्थेम्ना सर्वजीविषु चिन्तयन् ।

निसर्गसुखसर्गं तेष्वपवर्गं विमार्गयेत् ॥

—यो. शा. ३.१३७

भवस्थिति—संसारवस्था (जन्म-मरण के चक्र में परिभ्रमण, आवागमन) सभी जीवों के लिए दुःखपूर्ण है—आवक मानसिक स्थिरता के साथ ऐसा चिन्तन करता हुआ, सब जीवों के लिए स्वाभाविक सुखमय मोक्ष की कामना करे ।

६. अत्वरपूवर्कं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा ।

प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ॥

—यो. दृ. स. ५१

बला दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर साधक के जीवन में बल—स्थिरता आ जाती है । उसके चलने-फिरने आदि किसी कार्य में त्वरा—आकुलता, हड़बड़ाहट नहीं होती । अपाय—दोष रूप विघ्न न रहने से उसके सभी कार्यों में मानसिक जागरूकता बनी रहती है ।

अपाय-शक्ति-मालिन्य—जिनसे नरक आदि दुर्गति प्राप्त होती है, ऐसे अशुभ या क्लिष्ट कर्मों की शक्ति, जिससे एक ऐसा अन्तर्मालिन्य प्राप्त होता है, जो सूक्ष्म ज्ञान के अधिगत होने में बाधा उत्पन्न करता है ।^१

अपुनर्बन्धक—जो जीव चरमपुद्गलावर्त की स्थिति में होता है, उसके कषाय बहुत मन्द हो जाते हैं । उसमें तीव्रतम कषाय या संक्लेशमय परिणाम नहीं आते । फलतः वह मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट (सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम) स्थिति का बन्ध नहीं करता । जैन दर्शन में उसकी अपुनर्बन्धक संज्ञा है । इस स्थिति में आ जाने के बाद जीवन की दिशा बदल जाती है । भीषण मोहमयी कर्मग्रन्थि भिन्न हो जाती है । उसकी श्रद्धा सम्यक् हो जाती है । अन्तर्विकास की यात्रा का शुभारंभ हो जाता है । जीव का वह अन्तिम पुद्गल परावर्त होता है । उसको पूरा कर लेने के बाद वह फिर और पुद्गल-परावर्त में नहीं आता ।^२

अपुनर्भाव—परपदार्थ-संयोग-जनित आत्मा की वैभाविक वृत्तियों का वैसा निरोध, जिससे वे फिर उत्पन्न न हो पाएं ।^३

अपूर्व—अपूर्वकरण, ग्रन्थि-भेद के सन्दर्भ में उत्पन्न वह उज्ज्वल आत्म-परिणाम, जो उससे पूर्व नहीं आया ।^४

१. अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविबन्धकृत् ।

नैतद्वतोऽयं तत्तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥

—यो. दृ. स. ६८

आत्म-विकास में विघ्नकारक अशुभ कर्मों का प्रबल मालिन्य सूक्ष्म तत्त्व-बोध प्राप्त करने में बाधक होता है । जो ऐसे मालिन्य से युक्त होता है, वह कभी सूक्ष्म बोध प्राप्त नहीं कर सकता ।

२. यो. श. ६

३. अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा ।

अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥

—यो. बि. ३६६

अन्य पदार्थों के संयोग से आत्मा में आविर्भूत वैभाविक वृत्तियों का तथा—वैसा (अत्यन्त) निरोध, जिससे वे फिर उत्पन्न न हो पाएं, वृत्ति-संक्षय कहा जाता है ।

४. करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानां तत्पुनस्त्रिधा ।

यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च ॥

—यो. बि. २६४

आत्मा का परिणाम—भाव करण कहा जाता है । वह तीन प्रकार का है—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण ।

अपूर्वकरण—अनादिकाल से आत्मा के साथ लगी हुई मोहात्मक कर्मग्रन्थि का भेदन करने के लिए अन्तरतम में जो अभूतपूर्व अध्यवसाय—अन्तः पराक्रम प्रस्फुटित होता है, वह अपूर्वकरण है। उससे दर्शन-मोहनीय कर्म-ग्रन्थि टूट जाती है। यह प्रथम अपूर्वकरण कहा जाता है। सम्यक्त्व प्राप्ति के समय यह होता है। उसी प्रकार की एक अत्यन्त तीव्र, उज्ज्वल परिणाम-धारा उस समय प्रस्फुटित होती है, जब साधक क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होता है। उसे द्वितीय अपूर्वकरण कहा जाता है।^१

अपूर्वासन्नभाव—अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण के समीपवर्ती होता है। अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण के अनन्तर निश्चितरूप में अपूर्वकरण प्राप्त होता है। इसे अपूर्वासन्न भाव कहा गया है।^२

अपेक्षातन्तुविच्छेद—आशाओं, आकांक्षाओं के तांतों का टूटना।^३

अप्रज्ञ—प्रज्ञा का—प्रकृष्ट ज्ञान का अविषय।^४

१. यो. दृ. स. १०

२. यो. दृ. स. ३६

३. ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।

अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥

—यो. बि. ३६५

समत्वभाव प्राप्त हो जाने पर योगी में एक ऐसी विशेषता प्रस्फुटित होती है, वह योग से उद्भूत चमत्कारमयी शक्तियों का प्रवर्तन—प्रयोग, प्रदर्शन नहीं करता। उसके सूक्ष्म कर्म क्षीण होते जाते हैं। उसकी अपेक्षाओं—आकांक्षाओं के तन्तु विच्छिन्न होने लगते हैं।

४. यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।

अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥

—स. श. ६७

जिसे यह सस्पन्द—स्पन्दन सहित, गतिशील जगत्, निस्पन्द—स्पन्दनरहित के समान, अप्रज्ञ—प्रज्ञा या चेतना रहित, क्रिया रहित, भोगशून्य प्रतीत होता है, वही ज्ञानी पुरुष शम—शान्ति प्राप्त करता है, दूसरा नहीं।

अप्रत्याख्यान—क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप कषायों में से प्रत्येक के चार-चार (संज्वलन, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा अनन्तानुबन्धी) भेदों में से दूसरा भेद । अप्रत्याख्यान कषाय की विद्यमानता में देशविरत श्रावक गुणस्थान निष्पन्न नहीं होता ।^१

अप्रमत्त—षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक की मनोदशा, जहां व्रत-पालन तो है पर सत्तारूप में आत्मवर्ती प्रमाद—आत्मस्वरूपाधिगम में अनुत्साह की भी विद्यमानता रहती है ।^१

१. स्युःकषायाः क्रोधमानमायालोभाः शरीरिणाम् ।

चतुर्विधास्ते प्रत्येकं भेदः संज्वलनादिभिः ॥

पक्षं संज्वलनः प्रत्याख्यानो मासचतुष्टयम् ।

अप्रत्याख्यानको वर्षं जन्मानन्तानुबन्धकः ॥

वीतराग-यति-श्राद्ध-सम्यग्दृष्टित्व-घातकाः ।

ते देवत्व-मनुष्यत्व-तिर्यक्त्व-नरकप्रदाः ॥

—यो. शा. ४.६-८

देहस्थ आत्माओं के चार कषाय हैं—

१. क्रोध, २. मान, ३. माया तथा ४. लोभ ।

संज्वलन, प्रत्याख्यानावरण, अप्रत्याख्यानावरण तथा अनन्तामु-बन्धी के रूप में प्रत्येक कषाय के चार भेद हैं ।

संज्वलन की कालावधि पन्द्रह दिन, प्रत्याख्यानावरण की चार मास, अप्रत्याख्यानावरण की एक वर्ष एवं अनन्तानुबन्धी की याव-ज्जीवन है ।

संज्वलन की विद्यमानता में वीतरागता, प्रत्याख्यानावरण की विद्यमानता में सर्वविरति-संयम, अप्रत्याख्यानावरण की विद्यमानता में श्रावकत्व तथा अनन्तानुबन्धी की विद्यमानता में सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता ।

संज्वलन आदि कषाय क्रमशः देव-गति, मनुष्य-गति, तिर्यच-गति एवं नरक-गति के हेतु हैं ।

२. मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनिस्वामिनौ मतौ ।

अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्येतौ यथायथम् ॥

—ज्ञाना. २८.२५

धर्मानुषंगी ध्यान के वास्तविक, विशिष्ट अधिकारी प्रमत्त-संयत तथा अप्रमत्त-संयत गुणस्थानवर्ती मुनि होते हैं ।

अप्रमादी—आत्मभाव या संयम में उत्साह का अभाव प्रमाद कहा जाता है।
 वैसा न होना—आत्मभाव की ओर उन्मुख होना अप्रमाद है। वैसा पुरुष अप्रमादी कहा जाता है। साधारणतया प्रमाद का अर्थ असावधानी या अजागरूकता है। इसके अनुसार अप्रमादी वह है, जो अपने कार्य-कलाप में, अपने धर्मानुष्ठान में जाग्रत रहता है।^१

अप्रशस्त—मलीमस, अशुभ, पापोत्पादक।^२

अब्जासन—पद्मासन।^३

अभिचार—वशीकरण, स्तंभन, उच्चाटन, मारण आदि हेतु वश्य अञ्जन प्रभृति तान्त्रिक प्रयोग।^४

अभिनिवेश—किसी विषय में आग्रहपूर्ण पकड़ रखना।^५

१. यो. दू. स. ४

२. अ. सा. ५.१००

३. जंघाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जंघया ॥

पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासनविचक्षणैः।

यो. शा. ४।१२६

एक जंघा के मध्यभाग में दूसरी जंघा को मिलाकर बैठना पद्मासन है। आसन-विशेषज्ञों का ऐसा कथन है।

४. अभिचारपरैः कैश्चित् कामक्रोधादिवंचितैः।

भोगार्थमरिघातार्थं क्रियते ध्यानमुद्धतैः॥

—ज्ञाना. २५.११

काम, क्रोध से अभिभूत, उद्धत, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि अभिचार-परायण पुरुष भोग-प्राप्ति, शत्रु-विनाश आदि के निमित्त ध्यान करते हैं।

५. कुतर्कैऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम्।

युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम्।

—यो. दू. स. ८८

मुक्तिवादी—मोक्षार्थी पुरुषों के लिए कुतर्काभिनिवेश—कुतर्क का अवलम्बन करना, आग्रह रखना समुचित नहीं है। उन्हें श्रुत—शास्त्रज्ञान, शील—सदाचरण और समाधि—ध्यान में अभिनिवेश—आग्रह रखना, संलग्न रहना युक्ति-संगत है।

अभिन्नभावदुर्लेश्या—अशुभ [कृष्ण, नील, कापोत] लेश्याओं—आत्मपरिणामों

को जिन्होंने उज्ज्वल भावों द्वारा नहीं मिटाया है । १

अभियान—गुरुजनों को आते देखकर उनके सामने जाना । २

अभियुक्ततर—अनुमान द्वारा साधित पदार्थ का प्रबल युक्तियों द्वारा खण्डन कर दूसरे प्रकार से सिद्ध कर डालने वाले प्रखर तार्किक । ३

अभिसंग—आत्माभ्युदय की दृष्टि से दोषपूर्ण कार्यों में रागात्मकतामय भाव, आसक्तता । ४

१. अनुद्धतमनः शल्या अकृताध्यात्मनिश्चयाः ।

अभिन्नभावदुर्लेश्या निषिद्धा ध्यानसाधने ॥

—ज्ञाना. ४.४७

जिन्होंने मनःशल्य—मन का कांटा नहीं निकाला है (अन्तःस्थित क्लेशपूर्ण वर्तन नहीं मिटाया है), अध्यात्म-पथ पर आरुढ़ होने का निश्चय नहीं किया है, जिन्होंने अपने भावों से दोषपूर्ण लेश्याओं—कषायानुरजित प्रवृत्तियों को दूर नहीं किया है, ऐसे पुरुष ध्यान-साधना में निषिद्ध हैं (उनमें ध्यान की योग्यता नहीं होती) ।

२. यो. श. ३।१२५-२६

३. यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमानतृभिः ।

अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते ॥

—यो. दृ. स. १२६

योग्य अनुमाताओं द्वारा युक्तिपूर्वक अनुमान के माध्यम से उपलब्ध सिद्ध—अर्थ भी उनसे अधिक प्रबल तार्किकों द्वारा अन्यथा—दूसरे रूप में सिद्ध कर दिया जाता है ।

४. तत्थाभिस्संगो खलु रागो अप्पीइलक्खणो दोसो ।

अन्नाणं पुण मोहो को पीडइ मं दढमिमेसि ॥

नाऊण तवो तव्विसय-तत्त-परिणय-विवाग-दोसोत्ति ।

चित्तेज्जा णाइ दढं पइरिक्के सम्मउवउत्तो ॥

—यो. श. ५६-६०

अभिसंग या आसक्ति राग है, अप्रीति द्वेष है, मोह अज्ञान है । इनमें से मुझे अत्यन्त पीड़ा कौन दे रहा है, यह सोचकर योगी उन दोषों के संबन्ध में—उनके स्वरूप, परिणाम—फल आदि पर किसी एकान्त स्थान में अवस्थित हो मन को एकाग्र कर भलीभांति चिन्तन करे ।

अभ्यासावेश—उत्तरोत्तर अभ्यास बढ़ाते जाने का क्रम ।^१

अभ्युत्थान—आदारास्पद जनों को देखते ही उनके प्रति विनय एवं आदर प्रकट करने हेतु खड़े होना ।^२

अभ्रान्त—देह तथा वाणी को आत्मा मानने की भ्रांति से रहित, बहिरात्म-भाव से असंपृक्त ।^३

१. एवं क्रमशोऽभ्यासावेशाद् ध्यानं भजेन्निरालम्बम् ।

समरसभावं यातः परमानन्दं ततोऽनुभवेत् ॥

—यो. शा. १२.५

क्रमशः अभ्यास बढ़ाने से (विक्षिप्त चित्त से यातायात चित्त, यातायात से श्लिष्ट तथा श्लिष्ट से सुलीन चित्त की ओर अग्रसर होने से) निरालम्ब ध्यान सिद्ध होता है । फलतः साधक समरसभाव प्राप्त करता है, परमानन्द का अनुभव करता है ।

२. अभ्युत्थानं तदालोकेऽभियानं च तदागमे ।

शिरस्यंजलिसंश्लेषः स्वयमासनढौकनम् ॥

आसनाभिग्रहो भक्त्या वन्दना पर्युपासना ।

तद्व्यानेऽनुगमश्चेति प्रतिपत्तिरियं गुणोः ॥

—यो. शा. ३.१२५-२६

गुरु को देखकर खड़े होना, उनको आते हुए जानकर सामने जाना, मस्तक पर अंजलिबद्ध होना, बैठने हेतु उन्हें स्वयं आसन देना, उनके बैठ जाने पर खुद बैठना, श्रद्धापूर्वक उनकी वन्दना, उपासना करना, जब वे जाने लगें, तब कुछ दूर तक उनके पीछे जाना—ये गुरु-भक्ति के उपक्रम हैं ।

३. शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः ।

भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥

—स. शा. ५४

जो वाक् एवं काय में आत्मत्व-बुद्धि रखता है, जो इन्हें ही आत्मा मानता है, वह भ्रान्त है । वैसा पुरुष आत्मा को शारीरिक क्रिया तथा वाचिक व्यापार में संजोये रहता है । पर, जो अभ्रान्त है—जिसे शरीर में आत्मा का भ्रम नहीं है (जो वाक् और काय में आत्मत्व-बुद्धि नहीं रखता), वह वाणी और देह से आत्मा को भिन्न जानता है ।

- अमनस्कता**—उन्मनीभाव, विषयासक्ति-रहित, समभावपूर्ण मनःस्थिति ।^१
- अमूर्त**—मूर्ततारहित, आकार-वर्जित ।^२
- अमृत**—वह अनुष्ठान, जिसके द्वारा साधक के मन में मुमुक्षा के उच्च भाव तथा भव-वैराग्य की अनुभूति जुड़ी रहती है, साधक जिसे वीतराग-प्रतिपादित मानने की आस्था लिये रहता है ।^३
- अमृतात्मा**—असंप्रज्ञात समाधि-दशा, जहां आत्मा का अमरत्व-भाव जागृत रहता है ।^४
- अयोगकेवली**—मानसिक, वाचिक, कायिक योग—प्रवृत्ति का निरोध कर अयोगावस्थापन्न [चतुर्दश गुणस्थानवर्ती] केवली—सर्वज्ञ ।^५
- अयोगयोग**—प्रवृत्ति मात्र के निरोध या अभाव रूप योग के सिद्ध हो जाने पर परम निर्वाण प्राप्त हो जाता है, जो योगी के जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, वह अयोगयोग है ।^६

१. अमनस्कतया संजायमानया नाशिते मनःशल्ये ।

शिथिलीभवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा ॥

—यो. श. १२.३८

अमनस्कता—उन्मनीभाव उत्पन्न होने से मनःशल्य नष्ट हो जाता है । योगी का शरीर तने हुए छाते के समान तनाव—कड़ापन (अकड़) छोड़कर शिथिल हो जाता है ।

२. यो. मा. ३८

३. यो. बि. १६०

४. धर्ममेधोऽमृतात्मा च भवशक्रशिवोदयः ।

सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥ —यो. बि. ४२२

धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवशक्र, शिवोदय, सत्त्वानन्द एवं पर—ये समाधि के ही नाम हैं, जिनका अन्वर्थकता के साथ यहां समन्वय करना चाहिए ।

५. ध्या. श. ६४

६. एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।

तत्तो अजोगजोगो कम्मेण परमं च निव्वाणं ॥ —यो. बि. २०

अनालम्बनयोग के सिद्ध हो जाने पर साधक मोह के सागर को लांघ जाता है । अपकश्रेणी प्राप्त करता है । परिणामस्वरूप केवल-ज्ञान उद्भासित होता है । अन्ततः अयोग-प्रवृत्ति मात्र का अभाव सध जाने पर, नितान्त-प्रवृत्तिशून्यता प्राप्त कर लेने पर, योगी परम निर्वाण प्राप्त करता है, जो उसके जीवन का चरम साध्य है ।

अयोगार्थी-अयोग—अयोगी गुणस्थान, जहाँ मानसिक, वाचिक तथा कायिक योग—प्रवृत्तियाँ सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं, निरस्त हो जाती हैं, उसे चाहनेवाला, उसे जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानकर उस ओर अग्रसर होने की भावना रखनेवाला योगी ।^१

अयोगियोग—जो योग-साधना के योग्य नहीं है, जिसकी मनःस्थिति योगाभ्यास के अनुकूल नहीं होती, वैसे अयोग्य पुरुष को योग की शिक्षा देना अयोगियोग कहा गया है ।^२

अयोग्यता—परिणति-विशेष में जुड़ने की योग्यता का अभाव ।^३

अरति—आत्मोत्कर्षक गुणों में अनुराग का अभाव ।^४

१. ता इय आणाजोगे जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्मं ।

एसो च्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य ॥ —यो. श. १०१

जो साधक अयोग—जहाँ मन, वचन तथा शरीर की सब क्रियाएँ संपूर्णतः निरस्त हो जाती हैं, ऐसी परमोच्च आत्मावस्था की आकांक्षा रखता है, उसे चाहिए कि वह आज्ञायोग में—शास्त्रीय विधि-निषेध के परिपालन में सदा निरत रहे । इससे भव—संसारचक्र से (जन्म-मरण रूप आवागमन से) विरह—वियोग या पार्थक्य सिद्ध हो जाता है । साधक को सिद्धावस्था के साथ सदा के लिए अवियोग प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह शाश्वत रूप में सिद्धत्व प्राप्त कर लेता है ।

२. गुरुणो अजोगिजोगो अच्चंतविवागदारुणो नेओ ।

जोगिगुणहीलणा-नटठनासणा-धम्मलाघवओ ॥ —यो. श. ३७

गुरु यदि अयोग्य पुरुष को योग का शिक्षण देते हैं तो उसका फल बहुत दारुण—कष्टप्रद होता है । उस (अयोग्य शिष्य के) कार्य-कलाप से योगी के गुणों का तिरस्कार होता है । वह अयोग्य व्यक्ति अपना तो नाश करता ही है, दूसरों को भी नाश करता है । इस प्रकार वह धर्म को नीचा दिखाता है ।

३. यो. बि. ३३२

४. उत्तरगुणबहुसाणो सम्मं भवरूवचिन्तणं चित्तं ।

अरई य अहिगयगुणा तहा तहा जत्तकरणं तु ॥

—यो. श. ४५

अहिंसा आदि मूल गुणों का पोषण-संवर्धन करने वाले उत्तर गुणों का आदर के साथ परिपालन करना चाहिए । मन में संसार के स्वरूप का सम्यक् चिन्तन करना चाहिए । यदि साधक के मन में अपने द्वारा स्वीकृत गुणों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो तो साधक को उसे मिटाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

- अर्थ**—ध्यान में सूत्रात्मक शब्द समवाय—सन्निहित अर्थ अधिगत करने का व्यवसाय—आंतरिक प्रयत्न—उद्यम—अर्थ शब्द से अभिहित हुआ है ।^१
- अर्थक्रिया**—उत्पत्ति-स्थिति-लयात्मक, सुखदुःखादिवेदनात्मक क्रिया, व्यापार ।^१
- अर्थदण्ड**—शरीर आदि के निमित्त आवश्यक कार्य हेतु, जीवन-निर्वाह हेतु की जाने वाली हिंसा ।^१
- अर्थव्यंजनयोग**—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्दमूलक, अर्थ-संक्रांति एवं शब्द आदि में परिणत व्यंजन-संक्रांति तथा मानसिक आदि प्रवृत्तियों का समवाय, जिनकी फल-निष्पत्ति विचार में होती है ।^१
- अर्थान्तरापदेश्य**—शब्द विशेष, जो प्रत्यक्ष रूप से अभीप्सित अर्थ व्यक्त न करे किन्तु चिन्तन-मनन पूर्वक जिससे अभीष्ट अर्थ निकाला जा सके ।^१

१. ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ तंतम्मि पंचहा एसो ।

दुग्गमित्थ कम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ ॥

—यो. वि. २

योगतन्त्र—योग वाङ्मय में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन एवं अनालम्बन के रूप में योग के पांच प्रकार प्रतिपादित हैं । स्थान और ऊर्ण को कर्ष-योग तथा अर्थ, आलम्बन एवं अनालम्बन को ज्ञान-योग कहा गया है ।

२. अ. सा. ४.८६

३. शरीराद्यर्थदण्डस्य प्रतिपक्षतया स्थितः ।

योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ॥

—यो. शा. ३.७४

शरीर आदि के प्रयोजन से की जाने वाली हिंसा अर्थ-दण्ड है तथा उसके प्रतिकूल निष्प्रयोजन की जाने वाली हिंसा अनर्थ-दण्ड है । अनर्थ-दण्ड का परित्याग श्रावक का तीसरा गुणव्रत है ।

४. पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते ।

अर्थव्यंजनयोगानां विचारः संक्रमः स्मृतः ॥

—ज्ञाना. ४२.१५

पृथक्त्व का आशय नानात्व है । श्रुतज्ञान वितर्क कहा जाता है । अर्थ, व्यंजन तथा योगों का संक्रमण विचार के रूप में अभिहित हुआ है (विचारात्मक है ।)

५. यो. शा. १६१

अर्धपर्याकासन—वह आसन, जिसमें आधे पलंग जैसी दैहिक स्थिति का समायोजन हो ।^१

अर्हन्-सर्वज्ञत्व—असाधारण आत्म-वैभव से युक्त, अर्चनीय, पूजनीय ।^२

अलोक—चेतन, अचेतन पदार्थ रहित केवल, आकाश मात्र, अलोकाकाश ।^३

अल्पमलत्व—अन्तर्मल—आभ्यन्तरिक कालुष्य की अल्पता, जो यथाप्रवृत्ति-करण में सधती है । साधनोद्यत पुरुष तब ग्रन्थिभेद के प्रायः सन्निकट पहुंच जाता है ।^४

अल्पसार—अल्पसत्त्व, जिनका आत्मबल कुण्ठित है ।^५

अल्पार्थन—अल्प प्रयोजन वश महत्त्वपूर्ण कार्य को तुच्छ बना देना ।^६

१. पर्यकमर्द्धपर्यकं वज्रं वीरासनं तथा ।

मुखारविन्दपूर्वं च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥ —ज्ञाना. २८.१०

पर्यकासन, अर्धपर्यकासन, वज्रासन, वीरासन, मुखासन, पद्मासन तथा कायोत्सर्ग—ध्यान के लिए ये उपयुक्त आसन हैं ।

२. बुद्धो मुक्तोऽर्हन् वार्सप यदैश्वर्येण समन्वितः ।

तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥

—यो. बि. ३०२

जो ऐश्वर्य से—ज्ञान एवं शक्ति के अपरिसीम वैभव से युक्त है, वह ईश्वर है, चाहे उसे मुक्त, बुद्ध, अर्हन् आदि किसी भी नाम से अभिहित किया जाए ।

३. यत्र भावा विलोक्यन्ते ज्ञानिभिश्चेतनेतराः ।

जीवादयः स लोकः स्यात्ततोऽलोको नभः स्मृतः ॥

—ज्ञाना. २ लोकभावना

ज्ञानी पुरुष—सर्वज्ञ आकाश में जहां तक चेतन, अचेतन पदार्थों को देखते हैं (जहां तक वे व्याप्त हैं), वह लोक है । उससे परे—उससे बाहर केवल आकाश—अलोक या अलोकाकाश है ।

४. यथाप्रवृत्तिकरणे चरमेऽल्पमलत्वतः ।

आसन्नग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यदः ॥ —यो. दृ. स. ३८

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण में आन्तरिक कलुषता अल्प हो जाती है । साधक ग्रन्थि-भेद के लगभग समीप पहुंच जाता है ।

५. धत्ते न खलु स्वास्थ्यं व्याकुलितं तनुमतां सतीविषयैः ।

शुक्लध्याने तस्मान्नःस्त्यधिका रोऽल्पसाराणाम् ॥ —यो. शा. ११.३

इन्द्रिय-जन्य विषयों के सेवन से व्याकुल बना मन स्वस्थ (मुस्थिर) नहीं हो पाता । इसीलिए वैसे अल्पसार—न्यून सत्त्वमुक्त प्राणा शुक्लध्यान के अधिकारी नहीं हैं ।

६. यो. बि. १५६

अवंचकत्रय—अवंचक तीन प्रकार का है—१. योगावंचक, २. क्रियावंचक, ३. फलावंचक ।

सद्गुरु का सान्निध्य, सहयोग प्राप्त होना योगवंचक है । उनको प्रणमन, वन्दन करना, उनका सत्कार करना, उनकी वैयावृत्य—सेवा आदि करना क्रियावंचक है । योगावंचक तथा क्रियावंचक का अमोघ फल फलावंचक है ।^१

अवंचकोदय—जो वंचना न करे, विपरीतगामी न हो, बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे, उसे अवंचक कहा जाता है । आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग-साधना के संदर्भ में कतिपय विशिष्ट क्रियाओं को अवंचक कहा है, जिनसे साधना में विशेष प्रेरणा तथा शक्ति प्राप्त होती है । उन क्रियाओं की प्राप्ति अवंचकोदय है ।^२

अवगाह—गति-स्थिति रूप परिणामपरिणत जीवों एवं पुद्गलों के लिए अवकाश, आधार ।^३

अवग्रह—निवास-स्थान ।^४

१. योग-क्रिया-फलाख्यं यच्छ्रूयतेऽवंचकत्रयम् ।

साधूनाश्रित्य परमभिषुलक्ष्यक्रियोपमम् । —यो. दृ. स. ३४

साधकों में अवंचकत्रय—योगावंचक, क्रियावंचक एवं फलावंचक—ये तीन अवंचक प्राप्त होते हैं, ऐसा सुना जाता है ।

जो वंचना न करे—कभी न चूके, बाण की ज्यों सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँच जाए—वह अवंचक के रूप में अभिहित है ।

उत्तम गुरु का योग प्राप्त होना योगावंचक, उनका वन्दन, नमन, सेवा, समादर आदि क्रियावंचक तथा ऐसे श्रेष्ठ कार्यों का अमोघ फल फलावंचक है ।

२. एवंविधस्य जीवस्य भद्रमूर्तेर्महात्मनः ।

शुभो निमित्त-संयोगो जायतेऽवंचकोदयात् ॥ —यो. दृ. स. ३३

सौम्यचेता उत्तम पुरुष को अवंचकोदय के कारण शुभ निमित्त का संयोग प्राप्त होता है ।

३. अ. सा. ६.५१

४. समानधार्मिकेभ्यश्च तथाऽवग्रहयाचनम् ।

अनुज्ञापितपानान्नाशनमस्तेयभावना ॥ —यो. शा. १.२६

अवग्रह—आवास-स्थान की याचना, आवश्यकतावश पुनः पुनः याचना, उपयुक्त स्थान की याचना, कहीं पहले टिके हुए साधमिक साधुओं से स्थान की याचना, तथा गुरु की आज्ञा से आहार-पानी, आसन आदि साधुचर्योंपयोगी उपकरणों की याचना—ये पांच अचौर्य महाव्रत की भावनाएं हैं ।

अवधिज्ञान—[सम्यक्] ज्ञान का तीसरा भेद, जिसके द्वारा इंद्रिय एवं मन रूप बाह्य साधनों के सहारे के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा के साथ मूर्त्त पदार्थों को जाना जा सके ।^१

अवधीरणा—अवज्ञा, अनादर, तिरस्कार ।^२

अवनामादिसंशुद्ध—शुद्ध भाव से प्रणमन आदि करना ।^३

अवमविगमन—कर्मों का अभाव ।^४

अविकल—काल आदि की अविकलता—अखण्डता के कारण अखण्डतया साध्यमान सम्पूर्ण योग । योगदृष्टिसमुच्चय में इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग के अन्तर्गत वर्णित शास्त्रयोग का यह विशेषण है ।^५

अविकारी—किसी भी प्रकार के विकार, परिवर्तन या परिणमन से रहित, कूटस्थ नित्य ।^६

१. घ्या. स्त. ४४

२. तस्याः प्रशान्तये पूज्यैः प्रतीकारः प्रवर्जितः ।

जगज्जन्तूपकाराय तस्मिन्नस्यावधीरणा ॥

—ज्ञाना. १.२२

पूज्य पुरुषों ने तृष्णा की प्रशान्ति हेतु (बन्ध-मोक्ष-स्वरूप-विश्लेषण के रूप में) उपाय बतलाया है । किन्तु (मोह-मुग्ध) जीव उसकी अवज्ञा करता है (उसे आदर नहीं देता) ।

३. यो. बि. ३६६

४. यो. मा. ३५

५. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रसादिनः ।

श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥

—यो. दृ. स. ४

यथाशक्ति प्रमाद-वर्जित, तीव्र बोधयुक्त साधक का शास्त्र-वचन—शास्त्र-ज्ञान के कारण अविकल—विकलता रहित—अखण्ड योग शास्त्रयोग कहा जाता है ।

६. एयस्स उ भावाओ निवित्ति-अणुवित्तिजोगओ होंति ।

उप्पायाई नेयं अविकारी अणुहवविरोहो ॥

—यो. श. ७३

पदार्थ में स्वभावतः निवृत्ति—एक पर्याय का त्याग तथा अनिवृत्ति, दूसरे पर्याय का परिग्रहण—यह क्रम चलता रहता है । पर इसके बावजूद पदार्थ अपने मूल रूप में स्थिर बना रहता है । इसलिए पदार्थ को कूटस्थ—नित्य मानना अनुभव-विरुद्ध है ।

अविकृतात्मा—सांख्यमत-समर्थित पुरुष या आत्मा का अविकृत विकाररहित भाव ।^१

अविक्षिप्त—राग, द्वेष, ईर्ष्या, निन्दा, शत्रु-भाव, क्लेश आदि में अपरिणत इनसे अप्रभावित, अविचलित [मन] ।^२

अविद्या—ज्ञानावरणीय आदि कर्म, जो आत्मा के ज्ञान आदि स्वभाव को आवृत करते हैं ।^३

अविद्यावादी—आत्मा को अविद्या या माया से परिव्याप्त मानने वाले ।^४

१. पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।

मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥

—यो. बि. ४४६

सांख्य दर्शन की यह मान्यता है कि पुरुष (आत्मा) अविकृत—विकाररहित है । स्फटिक पत्थर, जिसका अपना कोई रंग नहीं होता, जैसी वस्तु उसके निकट होती है, उसी के प्रतिबिम्ब द्वारा उसी रंग का दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार पुरुष अपने में (प्रकृति-प्रसूत) अचेतन मन (बुद्धि) के प्रतिबिम्बित होने पर तदनुरूप प्रतीत होता है ।

२. अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।

धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥

—स. श. ३६

अविक्षिप्त—विक्षेपरहित—राग, द्वेष आदि विकल्प रहित (मनः) परिणाम आत्मा का तत्त्व—स्वरूप है । विक्षिप्त—विक्षेपयुक्त, राग-द्वेष आदि विकल्प युक्त परिणाम भ्रान्ति है—भ्रम है । अतः साधक विक्षेप-वर्जित परिणाम रखे, विक्षेपयुक्त परिणामों का आश्रय न ले ।

३. अविद्यासंगताः प्रायो विकल्पाः सर्वे एव यत् ।

तद्योजनात्मकश्चैव कुतर्कः किमनेन तत् ॥

—यो. दृ. स. ६०

प्रायः सभी विकल्प अविद्या-संगत हैं—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं । कुतर्क उनका योजक (जोड़ने वाला), —उद्भावक है । वह व्यर्थ है ।

४. अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।

अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥

—यो. बि. ३०१

मुक्तवादी—आत्मा को सदा मुक्त—बन्धशून्य मानने वाले, अविद्यावादी—आत्मा को अविद्या या मायायुक्त मानने वाले पुरुषों ने भी इसी तत्त्वनीति (माध्यस्थ्य) मार्ग का स्वीकार किया है । वहाँ सिर्फ नाम की भिन्नता है ।

अविद्यावासनावेश—अविद्या या विपरीत ज्ञानमूलक संस्कारों का वेग, प्रभाव ।^१

अविधिनिषेध—धर्मक्रिया के विपर्यास का निवारण ।^२

अविपरिणामिनी इच्छा—यम-परिपालन की ऐसी अति तीव्र इच्छा, जो कभी विपरिणत नहीं होती अथवा अनिच्छा के रूप में नहीं बदलती । उसे इच्छा-यम कहा जाता है ।^३

अविमुक्ति—उपास्य देवों के प्रति अति भक्ति या अन्ध श्रद्धा को अविमुक्ति कहा जाता है । वैसे व्यक्ति अन्ध श्रद्धा के कारण अपने उपास्य देवों में इतने आसक्त होते हैं कि अन्य नामों से अभिहित तद्गुणसम्पन्न देवों को सर्वथा भिन्न मानते हैं । गुणनिष्पन्न ऐक्य उनकी दृष्टि में नहीं आता । आचार्य हरिभद्र के अनुसार वह उनका मोहजनित अज्ञान है ।^४

अविरत—मिथ्यादृष्टि [प्रथम] तथा अविरत-सम्यग्दृष्टि [चतुर्थ] गुण-स्थानवर्ती ।^५

अविषय—जो इन्द्रियों का विषय नहीं है, जिसका इन्द्रियों द्वारा अनुभव नहीं किया जाता । जो दर्शन, श्रवण, स्पर्श, संभाषण तथा गन्ध जैसे इंद्रिय सुखों से विरहित है ।^६

१. अविद्यावासनावेशविशेषविवशात्मनाम् ।

योज्यमानमपि स्वस्मिन् न चेतः कुरुते स्थितिम् ॥

—ज्ञाना. ३३.२

अविद्यामूलक वासना के आवेश—वेग द्वारा जिनकी आत्मा विशेषतः विवश—अस्वाधीन है, वे चित्त को अपने में जोड़ते हुए भी उसे वहां स्थिर नहीं कर पाते—टिका नहीं पाते ।

२. अ. सा. ७.३२

३. तद्वत्कथाप्रीतियुता तथाऽविपरिणामिनी ।

यमेष्विच्छाऽवसेयेह प्रथमो यम एव तु ॥

—यो. दृ. स. २१५

यमों में स्थिरतायुक्त इच्छा—अभिरुचि, यमों की आराधना करने वाले पुरुषों की कथा में प्रीति—प्रथम यम (इच्छा-यम) है ।

४. यो. दृ. स. १०२

५. ध्या. श. १८

६. यो. बि. १३८

- अविसंवादन**—अपना कथन या प्रतिपादन अपनी ही युक्ति से न काटना ।^१
अवेद्यसंवेद्यपद—वेदन करने योग्य, जानने योग्य, अनुभव करने योग्य—आत्म-
 तत्त्व को अनुभूत करने की योग्यता का अभाव ।^२
अव्यक्त-चित्त—ध्यान में असंस्फूर्त एवं अनवस्थित चित्त ।^३
अव्यक्तचैतन्य—वह पुरुष, जिसकी अन्तश्चेतना अव्यक्त—अप्रकट या अनुद्बुद्ध
 होती है, अव्यक्तचैतन्य कहा जाता है । वैसा व्यक्ति योगबीज प्राप्त
 नहीं कर सकता ।^४
अव्यथा—ध्यानावस्था में अव्यथा, अनाकुलता आदि शुक्ल ध्यान के सूचक
 हैं ।^५
अव्यय—वर्तमान, भूत, भविष्य—तीनों कालों में विनाश रहित ।^६

१. प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।

प्रतिपन्नक्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥ —यो. बिं. १२८

बातचीत में मितभाषण, अविसंवादिता—संगतभाषण (अपने
 ही कथन से अपनी बात को न काटना), स्वीकृत प्रतिज्ञाओं का
 अनुसरण तथा अपने कुलक्रमागत धार्मिक कृत्यों का अनुपालन पूर्व
 सेवा (योग-साधना में प्रविष्ट होने से पूर्व अभ्यास योग्य आचरण)
 के अन्तर्गत हैं ।

२. अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्बणम् ।

पक्षिच्छायाजलचर, प्रवृत्त्याभमतः परम् ॥

—यो. दृ. स. ६७

मित्रा, तारा, बला, दीप्रा—इन चार दृष्टियों में अवेद्य-संवेद्य
 पद—जानने योग्य परम तत्त्व को जान पाने की क्षमता का बड़ा
 अभाव रहता है । जैसे कोई जलचर आकाश में उड़ते पक्षी की जल
 में पड़ती छाया को पकड़कर पक्षी को पकड़ लेने का उपक्रम करे, वैसी
 ही स्थिति इन दृष्टियों में व्यक्ति के अवेद्य संवेद्य पद प्राप्त कर लेने
 के सन्दर्भ में है ।

३. का. श. १४६५

४. एतद्भावमले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम् ।

करोत्यव्यक्तचैतन्यो महत्कार्यं न यत् क्वचित् ॥

—यो. दृ. स. ३०

जिनका भाव-मल-भावनाओं का मालिन्य अत्यन्त क्षीण हो
 जाता है, वे योग-बीज प्राप्त करते हैं । जिनकी चेतना अजागृत होती
 है, वे योग-बीज प्राप्त कर लेने जैसा महान् कार्य नहीं कर पाते ।

५. ध्या. श. १००

६. स. श. ३३

अव्यापारितचित्त—ध्यान की दिशा में व्यापार-विरत—अप्रवृत्त चित्त ।^१

अशक्तियोग—भाववीर्यात्मक शक्तिमत्ताजनित प्रेरणा का असद्भाव ।^२

अशुभाशय—पाप रूप अशुभ आशय, अशुभ योगात्मक भाव ।^३

अष्टपत्राब्ज—आठ पंखुड़ियों का कमल ।^४

अष्टमातृ (मातृका)—ईर्या-समिति—देख देख कर जागरूक भाव से चलना, भाषा-समिति—दोषवर्जित, सर्वहितवर, परिमित भाषा बोलना, एषणा-समिति—निर्दोष आहार-पानी की गवेषणा करना, वैसा स्वीकार करना, आदान-समिति—संयत जीवनोपयोगी उपकरणों की भली भाँति देखभाल कर लेना, रखना, उत्सर्ग-समिति—मल, मूत्र आदि का अहिंसा की दृष्टि से जीव-जन्तु रहित पृथ्वी पर त्याग करना—ये पाँच समितियाँ तथा मनो-गुप्ति—अशुभ, दोषपूर्ण चिंतन, संकल्प-विकल्प आदि से मन को बचाये रखना, वचन-गुप्ति—सदोष, निरर्थक, अहितकर वचन-व्यापार से बचना, काय-गुप्ति—अशुभ, दोषपूर्ण, दैहिक क्रियाओं को नियन्त्रित करना—चारित्र के संजनन, पालन, पोषण आदि करने की दृष्टि से इन्हें चारित्र रूपी गात्र की—पुत्र की अष्ट माताएं या अष्ट मातृकाएं कहा जाता है ।^५

असंक्रम—अप्रवेश ।^६

१. का. श. १४६७

२. अ. सा. ४.५४

३. ततः पुण्याशयः पूर्णस्तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।

शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥

—ज्ञाना. ३.२८

तीन प्रकार के आशयों—उपयोगों में पहला पुण्याशय या शुभोपयोग है, दूसरा पापाशय या अशुभोपयोग है और तीसरा शुद्धोपयोग है ।

४. यो. शा. ५.१२५-२६

५. एताश्चारित्रगात्रस्य जननात् परिपालनात् ।

संशोधनाच्च साधूनां मातरोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥

—यो. शा. १.४५

पाँच समितियाँ तथा तीन गुप्तियाँ साधुओं के चारित्ररूप शरीर को जन्म देने के कारण, उनके परिपालन तथा संशोधन—परिष्करण के कारण उनके लिए अष्ट मातृकाएं—आठ माताएं कही गई हैं ।

६. अ. सा. ४.३१

असंग-असंगानुष्ठान—सतत विमर्श, अभ्यास, अनुवर्तन आदि से जब संस्कार साधना में इतने ओतप्रोत हो जाएं कि प्रवृत्ति करते समय शास्त्र का स्मरण करने की आवश्यकता ही न रहे, सहजतया शास्त्रविहित प्रवृत्ति चलती रहे, वह असंगानुष्ठान है ।^१

असंगानुष्ठान—सब प्रकार की भौतिक आसक्ति से वर्जित विशुद्ध आत्मोन्मुख क्रियाकलाप ।^२

असंग्रह—आत्मतत्त्व को जानते हुए भी अनादि काल से चले आते विभ्रम, मोह तथा अनभ्यास के कारण उसे संगृहीत न किये रहने—टिकाये न रख पाने की स्थिति ।^३

असंप्रज्ञात—वह समाधि-दशा, जिसमें समस्त बाह्य वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं । ध्येय, आलम्बन या बीज का अभाव हो जाने से इसे निर्बीज समाधि कहा जाता है ।^४

१. एयं च पीडमत्सागमाणुगं तह असंगया जुत्तं ।

नेयं चउच्चिहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ।

—यो. बि. १८

प्रीति-अनुष्ठान—योगोन्मुख क्रिया में अत्यन्त तीव्र उत्कंठा भाव से यत्नशीलता, भक्ति-अनुष्ठान—ध्येय के प्रति विशेष समादर एवं समर्पण के साथ साधना-परायणता, आगमानुष्ठान—आगमवचनानुरूप योगसाधना में संलग्नता तथा असंगानुष्ठान—समग्र आसक्ति वर्जन-पूर्वक अध्यात्मयोग में एकरसता, एकनिष्ठता—ये अनुष्ठान के चार भेद हैं । इनमें अन्तिम—असंगानुष्ठान अनालम्बन योग है ।

२. यो. दू. स. १७५

३. अनाविविभ्रमान्मोहादनभ्यासादसंग्रहात् ।

ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्वं प्रखलत्येव योगिनः ॥ —ज्ञाना. ३३.१

अनादिकाल से चली आती वासना, मोह, अभ्यास के अभाव तथा असंग्रह-तत्त्वों को सम्यक् रूप में गृहीत न कर पाने के कारण जाना हुआ आत्म-तत्त्व भी योगी से छूट जाता है (साधक आत्म-तत्त्व को जानता हुआ भी अध्यात्म-पथ से प्रखलित—च्युत हो जाता है) ।

४. असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।

निरुद्धाशेषवृत्त्यादितत्स्वरूपानुवेधतः ॥ —यो. बि. ४२१

कैवल्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् आगे जो योग सिद्ध होता है, उसे अन्य—पातंजलयोग के ज्ञाता असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि में समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाता है, आत्मा स्वरूपानुविद्ध—स्वरूप-स्थित हो जाती है ।

असंमोह—समुपलब्ध ज्ञान के अनुरूप सद् अनुष्ठान—शुभ प्रवृत्ति या सद् आचरण करना असंमोह है ।^१

असत्कल्प—अस्तित्वरहित जैसा । उन्मनीभाव प्राप्त होने पर साधक को ऐसी अनुभूति होती है, मानो उसके शरीर का अस्तित्व ही नहीं रह गया हो ।^२

असद्विद्या—सम्यक्दृष्टि या सम्यक् चिन्तन रहित कला ।^३

असमंजसत्व—गुण, भावना तथा कर्म-प्रसूत समग्र जीवन-चर्या के सामंजस्य का अभाव ।^४

१. इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।

सदनुष्ठानवर्त्ततदसंमोहोऽभिधीयते ॥

—यो. दृ. स. १२१

बुद्धि इन्द्रियगम्य पदार्थों पर आश्रित है । इन्द्रियों द्वारा जो प्रतीति होती है, वह बुद्धि है । जो आगम—शास्त्र द्वारा उपलब्ध होता है, वह ज्ञान है । ज्ञान जब सत् क्रिया में परिणत हो जाता है, तब वह असंमोह कहा जाता है ।

२. विश्लिष्टमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम् ।

अमनस्कोदयसमये योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥

—यो. शा. १२.४२

अमनस्कता के उदित होने पर योगी अपने शरीर के सम्बन्ध में अनुभव करने लगता है, मानो वह बिखर गया हो, भस्म हो गया हो, उड़ गया हो, प्रलीन हो गया हो, मानो उसका अस्तित्व ही नहीं रह पाया हो ।

३. असद्विद्याविनोदेन आत्मानं मूढ ! वंचय ।

कुरु कृत्यं न किं वेत्ति विश्ववृत्तं विनश्चरम् ॥ —ज्ञाना. २.३

अज्ञ जन ! असद् विद्या—अधःपतन की ओर ले जाने वाली विद्या, कला, कुशलता द्वारा आत्म-प्रवचना मत करो (अपने आपको मत ठगो) । करने योग्य (उत्तम) कार्य करो । क्या नहीं जानते, संसार का यह सारा विस्तार विनश्चर है ?

४. एसो चेवेत्थ कमो उच्चियपविस्तीए वग्निओ साहू ।

इहराऽसमंजसत्तं तहा तहाऽठाणबिणिओगा ॥ —यो. श. ८०

समुचित योगाभ्यास के अनुरूप आचरण करने योग्य जो विधि-विधान आदि भलीभांति वर्णित हैं, साधकों को उनका अनुसरण-परिपालन करना चाहिए । यदि योगाभ्यास का क्रम विधि-विधान पूर्वक समुचित रूप में नहीं चलता—विपरीत रूप में चलता है तो साधना में सामंजस्य नहीं रहता ।

असमंजसविधान—योग-साधना में अविधि का आश्रय लेने से शास्त्र-प्रतिकूल विधान—विधिक्रम की स्थापना होती है, जिसे असमंजस विधान कहा जाता है ।^१

असमकलुषता—अघाति कर्मों की विषम स्थिति अथवा नाम-कर्म एवं गोत्र-कर्म की अधिक स्थिति तथा आयुष्य-कर्म की न्यून स्थिति ।^२

असात—असात वेदनीय कर्मजनित दुःख, क्लेश ।^३

असातोदय—असात-वेदनीय कष्टप्रद कर्मों के उदय का अभाव ।^४

असिद्ध्यादिभाव—योगसाधना की अपेक्षित योग्यता आदि का अभाव ।^५

१. यो. वि. १४

२. यो. मा. ३१

३. सुतीव्राऽसातसन्तप्ता मिथ्यात्वातंकर्तकिताः ।

पंचधा परिवर्तन्ते प्राणिनो जन्मदुर्गमे ॥

—ज्ञाना. २ संसारभावना ६

इस संसार रूप दुर्गम वन में प्राणी घोर दुःख से संतप्त तथा मिथ्यात्व रूप रोग से उत्पीड़ित होते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव एवं भाव—इन पांच पर आधारित परिवर्तनों में से गुजरते हुए भटकते रहते हैं ।

४. असातोदयशून्योऽन्धः कान्तारयतितो यथा ।

गतीदिपरिहारेण सम्यक् तत्राभिगच्छति ॥

तथाऽयं भव-कान्तारे पापादि परिहारतः ।

श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसंयुतः ॥

—यो. वि. ३५४-५५

भयानक जंगल में भटका हुआ एक अन्ध पुरुष, जिसके असात-वेदनीय—कष्टप्रद कर्मों का उदय नहीं है, खड्डे आदि से बचता हुआ अच्छी तरह अपने पथ पर चलता जाता है, उसी प्रकार संसाररूपी गहन-वन में भटकता हुआ वह पुरुष, जो श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) रूप नेत्रों से विहीन है, पर जिसके सात-वेदनीय—मुखप्रद कर्मों का उदय है, पापों से बचता हुआ धर्म के पथ पर अग्रसर होता रहता है ।

५. यो. दू. स. २०६

असूक्ष्मतनुयोग—बादर [स्थूल] काय-योग, दैहिक प्रवृत्ति ।^१

अस्तविभ्रम—आत्मभाव का अयथार्थ ज्ञान, भ्रान्ति जिन्होंने मिटा दी ।^२

अस्थानविनियोग—अनुचित, अग्राह्य, अयोग्य विषय में भावना का वर्तन ।^३

अस्वन्त—आनन्दवर्जित, कष्टकर, अशोभन ।^४

१. श्रीमानचिन्त्यवीर्यः शरीरयोगेऽथ बादरे स्थित्वा ।

अचिरादेव हि निरुणद्धि बादरौ वाङ्मनसयोगौ ।

सूक्ष्मेण काययोगेन मनोयोगं स बादरं रुन्ध्यात् ।

तस्मिन्ननिरुद्धे सति शक्यो रोद्धुं न सूक्ष्मतनुयोगः ।

वचनमनोयोगयुगं सूक्ष्मं निरुणद्धि सूक्ष्मतनुयोगात् ।

विदधाति ततो ध्यानं सूक्ष्मक्रियमसूक्ष्मतनुयोगम् ॥

—यो. शा. ११.५३-५५

अचिन्त्य-शक्ति संपन्न योगी समुद्घात के अनन्तर बादर काय-योग में स्थित होकर बादर वचन-योग तथा बादर मनोयोग का शीघ्र निरोध कर देते हैं । तत्पश्चात् सूक्ष्म काय-योग का अवलम्बन कर वे बादर काय-योग का निरोध करते हैं । क्योंकि बादर काययोग को निरुद्ध किये बिना सूक्ष्म काय-योग निरुद्ध नहीं किया जा सकता ।

फिर वे सूक्ष्म काय-योग में स्थित होकर सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं । तत्पश्चात् वे सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरा शुक्ल ध्यान करते हैं । तब तक असूक्ष्म काय-योग का अभाव नहीं होता ।

२. ज्ञाना. ३२.७६

३. एसो चेवेत्थ कमो उच्चियपविस्तीए वग्निओ साहू ।

इहराऽसमंजसत्तं तहा तहाऽठाणविणिओशा ॥ —यो. श. ८०

समुचित योगाभ्यास के अनुरूप आचरण करने योग्य जो विधि-विधान आदि भलीभाँति वर्णित हैं, साधकों को उनका अनुसरण-परिपालन करना चाहिए । यदि योगाभ्यास का क्रम विधि-विधान पूर्वक समुचित रूप में नहीं चलता—विपरीत रूप में चलता है तो साधना में सामंजस्य नहीं रहता ।

४. अतएव च शस्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभः ।

श्रामण्यदुर्ग्रहोऽस्वन्तः शास्त्र उक्तो महात्मभिः ॥ —यो. बि. १४४

श्रमण-जीवन शस्त्र, अग्नि और सर्प के सदृश है । शस्त्र आदि को यदि सावधानी से सम्हालकर न रखा जाए तो बड़े कष्टप्रद सिद्ध होते हैं । उसी प्रकार श्रमण-जीवन (संयम) को यदि सतत जागरूकता के साथ न सम्हाला जाए तो उसका परिणाम बड़ा दारुण होता है ।

अनर्थ-वृद्धि—रोग आदि दैहिक कष्ट, मनो-व्यथा, आर्त्त, रौद्र आदि अशुभ चिन्तन के रूप में अनर्थों की वृद्धि ।'

आ

आकिञ्चन्य—किसी प्रकार के परिग्रह का न होना, सर्वथा अपरिग्रह ।'

आक्षेपक ज्ञान—वह ज्ञान, जो योगी को आत्मा के सहज स्वरूप—स्वभाव की ओर आकृष्ट करता है ।'

१. बलेन प्रेर्यमाणानिकरणानि वनेभवत् ।

न जातु वशतां यान्ति प्रत्युतानर्थवृद्धये ॥

—अ. सा. २.५.२६

बलपूर्वक इन्द्रियों को प्रेरित—दमित या नियन्त्रित करने से वे जंगली हाथी के सदृश वश में नहीं आतीं, प्रत्युत और अनर्थ बढ़ाती हैं ।

२. स्पर्शं रसे च गन्धे च रूपे शब्दे च हारिणि ।

पञ्चस्वितीन्द्रियार्थेषु गाढं गाढ्यस्य वर्जनम् ॥

एते ष्वेवामनोज्ञेषु सर्वथा द्वेषवर्जनात् ।

आकिञ्चन्यव्रतस्यैवं भावनाः पञ्च कीर्तिताः ॥

—यो. शा. १.३२,३३

पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी मनोहर—सुन्दर स्पर्श, रस, गन्ध एवं शब्द मूलक विषयों में प्रगाढ आसक्ति का त्याग तथा पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी अमनोज्ञ—असुन्दर, अप्रिय स्पर्श आदि में द्वेष-वर्जन—अपरिग्रह महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं ।

३. श्रुतधर्मे मनो नित्यं कायस्त्वस्यान्यचेष्टिते ।

अतस्त्वाक्षेपकज्ञानन्न भोगा भवहेतवः ॥

—यो. दृ. स. १६४

कान्ता दृष्टि में विद्यमान साधक का मात्र शरीर अन्यान्य चेष्टित—संसार के विविध कार्यों में लगा रहता है पर उसका मन सदा श्रुतधर्म में—शास्त्र-ज्ञान से प्राप्त तथा गुरुजन से श्रुत—सुने हुए धर्म में निरत रहता है । वह आक्षेपक ज्ञान—आत्म-स्वभाव की ओर आकृष्ट, प्रेरित करने वाले ज्ञान से अनुप्राणित होता है । अतएव अनासक्त भाव से भोगे जाते भोग उसके लिए भव-हेतु—संसार में आवागमन—जन्म-मरण के चक्र में भटकने के कारण नहीं बनते ।

आगम—आप्त-वाक्य रूप प्रमाण ।^१

आगम-आगमानुष्ठान—शास्त्र के वचनों की ओर दृष्टि रखते हुए साधक की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति आगमानुष्ठान है । इसे वचनानुष्ठान भी कहा जाता है ।^२

आगमविशुद्ध—शास्त्र के अध्ययन, परिशीलन, मनन से परिष्कृत । योग-दृष्टि-समुच्चय में इसका योगी की उस बुद्धि के विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है, जो वेद्य पदार्थों का संवेदन तो करती है पर जिसमें उनके प्रति रसात्मक या रागात्मक भाव नहीं होता । आचार्य हरिभद्र ने वैसी शास्त्र-परिष्कृत, आसक्तिशून्य बुद्धि को कर्म-प्रवृत्त होने पर भी प्रवृत्ति-शून्यवत् बताया है ।^३

आग्नेय मण्डल—आचार्य हेमचन्द्र द्वारा नासिका-विवर में की गई चार मण्डलों की कल्पना के अन्तर्गत चौथा मण्डल । इसका स्वरूप ऊपर की ओर फैलती ज्वालाओं से युक्त, भयोत्पादक, त्रिकोण, स्वस्तिक-चिह्न सहित, अग्निस्फुलिंगतुल्य वर्णमय तथा अग्निबीज 'रेफ' युक्त माना गया है ।^४

१. अध्या. १.६

२. एयं च पीडभक्तागमाणुगं तह असंगया जुतं ।

नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ॥ —यो. बि. १८

प्रीति, भक्ति, आगम एवं असंगता—अनासक्तता के आधार पर अनुष्ठान के चार भेद हैं ।

अन्तिम असंगानुष्ठान अनालम्बन योग के अन्तर्गत है ।

३. वेद्यं संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम् ।

तथा प्रवृत्तिबुद्ध्याऽपि स्त्र्याद्यागमविशुद्धया ॥

—यो. दृ. स. ७३

दीप्रा दृष्टि में (वेद्य-संवेद्य-पद प्राप्त हो जाने पर) आत्मोन्नति में विघ्नकारक स्त्री आदि वेद्य-अनुभवनीय पदार्थ आगम-परिशीलन से विशोधित, अप्रवृत्तिशील बुद्धि द्वारा अनुभव किये जाते हैं ।

४. ऊर्ध्वंज्वालांचितं भीमं त्रिकोणं स्वस्तिकान्वितम् ।

स्फुलिंगाणि तद्बीजं ज्ञेयमाग्नेयमण्डलम् ॥

—यो. शा. ५.४६

ऊपर की ओर विस्तीर्ण होती ज्वालाओं से युक्त, भयजनक, त्रिकोण, स्वस्तिक-चिह्न सहित अग्नि-स्फुलिंग सदृश पीत-रक्त-वर्णमय, अग्निबीज "रेफ" से युक्त आग्नेय मंडल होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

आग्नेयी-धारणा—नाभि के भीतर सोलह पंखुड़ियों वाले कमल की परिकल्पना, उस पर महामंत्र अर्ह की स्थापना, सोलह स्वरों की स्थापना आदि के रूप में धारण की एक विशेष विधा, जिसका लक्ष्य आठों कर्मों को भस्म कर डालना है ।^१

१. विचिन्तयेत्तथा नाभौ कमलं षोडशच्छदम् ।
कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपन्नं स्वरावलिम् ॥
रेफबिन्दुकलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम् ।
तस्य रेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूमशिखां स्मरेत् ॥
स्फुलिंगसन्ततिं ध्यायेज्ज्वालामालामनन्तरम् ।
ततो ज्वालाकलापेन बहेत् पद्मं हृदि स्थितम् ॥
तदष्ट-कर्म-निर्माणमष्ट-पत्रमधोमुखम् ।
बहृत्येव महामन्त्र-ध्यानोत्थः प्रबलानलः ॥
ततो देहाद् बहिर्ध्यायेत् त्र्यम्बकं वल्लिपुरं ज्वलत् ।
लाञ्छितं स्वस्तिकेनान्ते वल्लिबीजसमन्वितम् ॥
देहं पद्मं च मन्त्राच्चिरन्तर्यं वल्लिपुरं बहिः ।
कृत्वाशु भस्मसाच्छाम्येत् स्यादाग्नेयीति धारणा ॥

—यो. शा. ७.१३-१८

नाभि के अन्दर सोलह पंखुड़ियों से युक्त कमल का चिन्तन करे । उस कमल की प्रत्येक कर्णिका पर महामंत्र अर्ह की स्थापना करे तथा उसके प्रत्येक पत्र पर क्रमशः “अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः” ये सोलह स्वर स्थापित करे ।

तत्पश्चात् हृदय में आठ पंखुड़ियों से युक्त कमल का चिन्तन करे । उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमशः १. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र तथा ८. अन्तराय—ये आठ कर्म स्थापित करे । यह कमल अधोमुखी हो ।

फिर रेफ, बिन्दु और कलायुक्त महामन्त्र के “ह्रं” अक्षर के रेफ में से धीमे-धीमे निकलने वाली धूम-शिखा का चिन्तन करे । तदनंतर उसमें से अग्नि-स्फुलिंग निकलने का चिन्तन करे । फिर वहाँ से निकलती हुई अनेक अग्नि-ज्वालाओं का चिन्तन करे । इन ज्वालाओं से हृदयस्थ पूर्वोक्त अष्टदलयुक्त कमल को दग्ध करे और इस प्रकार विचार करे कि महामन्त्र “अर्ह” के ध्यान से प्रसूत प्रबल अग्नि निश्चय ही कर्मयुक्त कमल को भस्म कर रही है ।

उसके बाद शरीर के बाहर त्रिकोण, स्वस्तिकयुक्त तथा अग्नि बीज “रेफ” से युक्त जलते हुए वल्लिपुर का चिन्तन करे । फिर शरीर के भीतर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न शरीर की ज्वाला से और

आज्ञा-ध्यान—तर्क से अबाधित, पूर्वापरविरोधरहित सर्वज्ञ-आज्ञा को सम्मुख रखकर अर्थ पर तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन ।^१

आज्ञा-परिणति—वीतराग-आज्ञा या वीतराग-प्ररूपित शास्त्र-ज्ञान की जीवन में क्रियान्विति ।^२

आत्मगोचर—आत्म-दर्शन, अपने स्वरूप का पर्यवेक्षण ।^३

आत्मदर्शी—बहिरात्मभाव से हटकर अन्तरात्मभाव में संलीन ।^४

बाहर वह्निपुर की ज्वाला से देह तथा अष्ट-कर्म-निर्मित कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि को शान्त करे ।

इस प्रकार का चिन्तन आग्नेयी धारणा कहा जाता है ।

१. आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधिताम् ।

तत्त्वतश्चिन्तयेदथास्तदाज्ञाध्यानमुच्यते ॥ —यो. शा. १०.८

अबाधित—किसी भी तर्क से अखंडित, पूर्वापर-विरोध-वर्जित सर्वज्ञों की आज्ञा को सम्मुख रखते हुए तात्त्विक दृष्टि से अर्थ-चिन्तन आज्ञा-विचय धर्म-ध्यान है ।

२. एतो सामाद्वयमुद्धिमेयऔष्णेगहा मुण्येध्वो ।

आणःपरिणइमेया अन्ते जा वीयरागो त्ति ॥ —यो. श. १६

चारित्र्यी—संयमाराधक वीतरागता प्राप्त होने तक समत्व-साधना की शुद्धि की तथा वीतराग-आज्ञा-आगम-ज्ञान की जीवन में क्रियान्विति की तरतमता के आधार पर अनेक प्रकार का होता है ।

३. व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागत्यात्मगोचरे ।

जागति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥ —स. श. ७८

तत्त्वज्ञानी व्यवहार में सोता है (व्यवहार में कर्तव्यवश बहस व अपेक्षित क्रियाएं करता है, किन्तु उनमें लिप्त-आसक्त नहीं होता) वह आत्मस्वरूप में जागृत रहता है । जो व्यवहार में जागृत (लिप्त-आसक्त) रहता है, वह आत्मस्वरूप में सुप्त रहता है (उस ओर उसकी उपेक्षा रहती है) ।

४. सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽज्ञात्मदर्शनाम् ।

विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थात्मदर्शिनः ॥ —स. श. ६३

अनात्मदर्शी (जिनको आत्मस्वरूप का भान नहीं है) पुरुषों को सुप्त, उन्मत्त आदि अवस्थाएं ही भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होती हैं, जागृत अवस्था में वे जो उन्मत्त आदि की तरह आचरण करते हैं, उसे वे भ्रान्तिपूर्ण नहीं मानते (उसे आत्मानुगत ही मानते हैं, उसमें अभिरत रहते हैं) किन्तु आत्मदर्शी जब तक अपने रागादि दोषों का क्षय नहीं कर पाता, सभी अवस्थाओं को भ्रान्तिमय मानता हुआ उनसे निवृत्त होने का प्रयत्न करता है ।

आत्मधी—आत्मा में ही आत्मत्व-बुद्धि ।^१

आत्मप्रदेशव्यसनसमसनारम्भण—आत्मप्रदेशों का विस्तीर्ण होना—

फैलना तथा संकीर्ण होना—सिकुड़ना ।^२

आत्मप्रसिद्धि—आत्मा के चैतन्य-स्वरूप का उसके अतिरिक्त अन्य सबसे पृथक्-करण ।^३

आत्मप्रेक्षण—अपने दोषों व दुर्बलताओं का सूक्ष्मता से अवलोकन ।^४

आत्मभ्रान्ति—भ्रम या अज्ञानवश अनात्मा में आत्मा का स्वीकार ।^५

१. देहे स्वबुद्धिरात्मानं, युनक्त्येतेन निश्चयात् ।

स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥ —स. श. १३

शरीर में आत्मत्व-बुद्धि ही जीव को निश्चित रूप से आगे से आगे शरीर का संयोग कराती जाती है (उसके कारण जीव संसारचक्र में भटकता रहा है, जन्मता, मरता रहता है) ।

आत्मा में ही आत्मत्व-बुद्धि प्राणियों को संसार से वियोजित करती है—जन्म-मरण से छुड़ाती है ।

२. यो. मा. ३१

३. नवानामपि तत्त्वानां ज्ञानसात्मप्रसिद्धये ।

येनाजीवादयो भावाः स्वभेदप्रतियोगिनः ॥

—अ. सा. ६.१८.३

नौ तत्त्वों के ज्ञान का अभिप्रेत आत्मसिद्धि ही है । क्योंकि अजीव आदि तत्त्व आत्म-तत्त्व के प्रतियोगी हैं—आत्मा के साथ अभाव-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं (आत्म-अभाव मूलक हैं) ।

४. भावण-सुयपाढो तित्थसवणससयं तयत्थ जाणम्मि ।

तत्तो य आयपेहणम्मिउणं दोसवेक्खाए ॥ —यो. श. ५२

नवाभ्यासी साधक को भावना, शास्त्र-पठन, तीर्थ-सेवन, पुनः-पुनः शास्त्र-श्रवण, तदर्थज्ञान—अर्थ-परिशीलन, तत्पश्चात् अपने दोषों की गवेषणा हेतु अत्यन्त निपुणतापूर्वक—सूक्ष्मता के साथ आत्मप्रेक्षण—आत्मावलोकन—इनमें उद्यत रहना चाहिए ।

५. बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ।

चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः, परमात्मतिनिर्मलः ॥ —स. श. ५

जिसको शरीर आदि परद्रव्यों, परभावों में आत्म-भ्रान्ति—आत्मत्व का भ्रम होता है, वह बहिरात्मा है । जो चित्त में उदित होने वाले राग-द्वेष आदि दोष तथा आत्मा का भेद-विज्ञान द्वारा यथार्थ स्वरूप जानता है, दोष-परिहार पूर्वक आत्मोन्मुख रहता है, वह अन्त-रात्मा है, जो अत्यन्त निर्मल—सर्वदोष-विवर्जित, अपने शुद्धस्वरूप—वीतरागभाव को प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा है ।

आत्ममति—देह को आत्मा मानना ।^१

आत्मविभ्रम—शरीर में आत्मत्व-बुद्धि रूप भ्रम ।^२

आत्मारामता—आत्मस्वभाव में रमणशीलता ।^३

आदान-निक्षेप—आसन, रजोहरण, पात्र, पुस्तक आदि संयमोपयोगी उपकरणों को भली-भांति देखभाल कर यतनापूर्वक ग्रहण करना, रखना आदि ।^४

१. शुभं शरीरं दिव्यादच्च विषयानभिवाञ्छति ।

उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥ —स. श. ४२

जिसकी देह में आत्मत्व-बुद्धि होती है (जो देह को आत्मा समझता है) वह सुन्दर शरीर तथा दिव्य भोगों की अभिवाञ्छा—कामना करता है। किन्तु जो तत्त्व-ज्ञानी (यथार्थ द्रष्टा) होता है, वह इनसे अपने को हटाता है।

२. उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थानौ यद्वद्विचेष्टितम् ।

तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥

—स. श. २१

जब किसी को स्थानु—ठूठ में मनुष्य का भ्रम उत्पन्न हो जाता है, तब वह भीति आदि के कारण जो चेष्टाएं करता है, उसी प्रकार यह जीव अज्ञान के कारण शरीर को ही भ्रमवश आत्मा मानकर उसके कार्य-कलाप को आत्मा का कार्य-कलाप मानने लगता है, वैसे ही चेष्टाएं करता है।

(जब शरीर से आत्मत्व का भ्रम निकल जाता है, तब स्वतः ये चेष्टाएं निरुद्ध हो जाती हैं)।

३. शान्तो दान्तो भवेदीदृगात्मारामतया स्थितः ।

सिद्धस्य हि स्वभावो यः सैव साधकयोग्यता ॥

—अ. सा. ५.१६.६८

आत्म-रमण में स्थित योगी शान्त-निष्कषाय तथा दांत—बाह्य-आभ्यन्तर-विकार-मुक्त हो जाता है। क्योंकि सिद्ध का जो स्वभाव है, वही साधक की योग्यता है।

४. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलिख्य च यत्नतः ।

गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा यत् सादानसमितिः स्मृता ॥

—यो. शा. १.३६

आसन (रजोहरण, पात्र, पुस्तक) आदि संयमोपकरणों का संवीक्षण कर—अच्छी तरह देखभालकर, प्रतिलेखनकर यतनापूर्वक ग्रहण करना, निक्षिप्त करना—रखना आदान-समिति है।

- आदेयता**—आदर्श, उत्तम पुरुष के रूप में सम्मान्य लोगों का समादर ।^१
आद्यावंचक—योग-अवंचक, क्रिया-अवंचक तथा फल-अवंचक—इन तीनों में पहला—योग-अवंचक ।^२
आनन्दलय—आध्यात्मिक उल्लासमय समाधि-दशा ।^३
आभालम्बन—दृष्टिदोष के मालिन्य के कारण वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध न होकर आभास मात्र का बोध होना ।^४

१. धृतिः क्षमा सदाचारो योगवृद्धिः शुभोदया ।

आदेयता गुरुत्वं च शमसौख्यमनुत्तमम् ॥

—यो. बि. ५४

योग से धृति, क्षमा, सदाचार, उत्तम फलानुषंगी साधना का विकास, आदेयत्व—श्रेष्ठ पुरुष के रूप में आदर, गौरव तथा सर्वोत्तम प्रशम-सुख का लाभ—शांति का अनुभव—ये सब प्राप्त होते हैं ।

२. सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादीप पावनैः ।

तथा दर्शनतो योग आद्यावंचक उच्यते ॥

—यो. दृ. स. २१६

कल्याणमय—परम पुण्यशाली पुरुषों के साथ, जिनके दर्शन मात्र से मन में पावनता का उद्भव होता है, यथावत् पहचान पूर्वक संबंध होना—उनका सान्निध्य प्राप्त होना आद्य-प्रथम अवंचक—योगावंचक कहा जाता है ।

३. संकल्पकल्पनामुक्तं रागद्वेषविर्जितम् ।

सदानन्दलये लीनं मनः समरसं स्मृतम् ॥

—यो. प्र. ८६

जो संकल्प-विकल्प से मुक्त हो, राग-द्वेष-रहित हो, शाश्वत सुख में लीन हो, वह मन समरस—समतामय कहा गया है ।

४. अपायदर्शनं तस्माच्छ्रुतदीपान्न तात्त्विकम् ।

तदाभालम्बनं त्वस्य तथा पापे प्रवृत्तिः ॥

—यो. दृ. स. ६६

साधक दीप्रा दृष्टि में अपाय-शक्ति के मालिन्य की अधिकता के कारण आगम रूप दीपक द्वारा अपाय—आत्मप्रतिकूल स्थिति में ले जाने वाले क्लिष्ट कर्म यथावत् देख नहीं पाता, क्योंकि उसकी उस प्रकार के अशुभ-कर्म में प्रवृत्ति रहती है ।

आभियोगिकी—युद्ध की, लड़ाई-झगड़े की भावना ।^२

आमरणदोष—हिंसा आदि क्रूर भाव में प्रगाढ़ आसक्ति के कारण, स्वयं घोर आपद्ग्रस्त होकर, अन्य को वैसा देखकर भी जहां जीवन-पर्यन्त पश्चात्ताप नहीं होता है, वह आमरणदोष है, जो रौद्रध्यानासक्त जीव के ज्ञापक चार चिह्नों में अन्तिम है ।^२

आमोषध—एक विशिष्ट यौगिक लब्धि । जिस योगी को यह प्राप्त होती है, उसके स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते हैं ।^३

आयोज्यकरण—केवली भगवान् द्वारा वेदनीय प्रभृति कर्मों की आयुष्य कर्म की तुलना में अधिक स्थिति देख उनका सामंजस्य करने हेतु कर्मों की उदीरणा, जिससे समुद्धात द्वारा उनका शीघ्र क्षय किया जा सके, आयोज्यकरण है । योगदृष्टिसमुच्चय के अनुसार आयोज्यकरण के अनंतर योग-संन्यास-योग सिद्ध होता है ।^४

१. कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना आभियोगिकी ।

दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥

—ज्ञाना. ४.४

कान्दर्पी—कामुकतायुक्त, कैल्विषी—किल्बिष—अपराध या दोष युक्त, आभियोगिकी—लड़ाई-झगड़ा, युद्ध आदि के ऊहापोह से युक्त, दानवी—आसुर भावयुक्त, संमोहिनी—कुटुम्ब आदि के मोह से युक्त—ये पांच भावनाएं पापरूप हैं, त्याज्य हैं ।

२. ध्या. श. २६

३. रयणाई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ ।

आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्डीए ॥

—यो. श. ८४

ज्यों-ज्यों साधक के जीवन में योग-साधना का उन्नयन होता जाता है, त्यों-त्यों उसे रत्नादि, अणिमादि, आमोसहि (स्पर्श-मात्र से रोगनाश) आदि विचित्र (अद्भुत) सिद्धियां प्राप्त होती जाती हैं ।

४. द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।

आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ॥

—यो. दू. स. १०

सामर्थ्य-योग का पहला भेद धर्म-संन्यास द्वितीय अपूर्वकरण (आठवें गुणस्थान के अन्तर्गत क्षपक श्रेणी—आरोहण) में सिद्ध होता है ।

सामर्थ्य-योग का दूसरा भेद योग-संन्यास (केवलि-समुद्धात रूप) आयोज्यकरण के पश्चात् सिद्ध होता है ।

आरूढारोहणभाव—पहुंचने योग्य स्थान पर पहुंचे हुए व्यक्ति के लिए जैसे और आगे चढ़ना आवश्यक नहीं होता, उसी प्रकार योगदृष्टि समुच्चय के अनुसार परा दृष्टि में पहुंचा हुआ साधक निराचार-पदयुक्त हो जाता है—वहां फिर किसी आचार के अनुपालन का प्रयोजन नहीं रहता ।'

आर्जव—माया, छलना या प्रवंचना के परित्याग के परिणामस्वरूप उत्पन्न ऋजुता, सरलता । आर्जव शुक्ल-ध्यान के चार आलम्बनों में तीसरा है ।'

आर्तध्यान—अनिष्ट-संयोग, इष्ट-वियोग, प्रतिकूल-वेदनीय, भोग-लालसा आदि से प्रसूत तन्मुखी संक्लिष्ट एकाग्रता । जैनदर्शन-प्रतिपादित ध्यान के चार भेदों में आर्त-ध्यान पहला है, अशुभ है ।'

आर्थ्य—मूल अर्थ, तात्पर्य या अभिप्राय से सम्बद्ध ।'

१. निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविर्वर्जितः ।

आरूढारोहणाभावगतवित्त्वस्य चेष्टितम् ॥

—यो. दृ. स. १७६

परादृष्टि में योगी निराचार-पद प्राप्त कर लेता है, जहां किसी आचार का अनुसरण अपेक्षित नहीं रहता । वह अतिचार—दोष रहित स्थिति पा लेता है । जो प्राप्य लक्ष्य (मंजिल) पर आरूढ हो चुका—चढ़ चुका (उसे प्राप्त कर चुका), उसे और आरोहण की आवश्यकता नहीं होती । योगी यहां वैसी ही स्थिति में होता है । कोई चेष्टित—आचार-पालन वहां वांछित नहीं रहता ।

२. ध्या. श. ६६

३. अट्टं रुद्धं धम्मं सुक्कं भाणाइ तत्थ अन्ताई ।

निब्बाणसाहणाइं भवकारणमट्टरुद्धाईं ॥

—ध्या. श. ५

आर्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल-ध्यान के ये चार भेद हैं । इनमें अन्तिम दो—धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के साधन हैं तथा आर्त-ध्यान एवं रौद्रध्यान संसार—जन्म-मरण के कारण हैं ।

४. आर्थ्यं व्यापारमाश्रित्य न च दोषोऽपि विद्यते ।

अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य यदि सम्यग्निरूप्यते ॥

—यो. बि. २६७

यदि तटस्थतापूर्वक, शब्दों के बजाय अर्थ के मूल तात्पर्य को लेकर सम्यक् निरूपण किया जाए तो आत्म-स्वभाव, आत्म-पराक्रम के सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता ।

आर्यापवाद—श्रद्धायोग्य सर्वज्ञों का अपवाद, विरोध—उन द्वारा निरूपित सत्य का प्रतिकार ।^१

आलम्बन—ध्यान में बाहरी प्रतीक का आधार या सहारा लेना आलम्बन है ।
वैसा ध्यान आलम्बन-योग कहा गया है ।^२

आवृत्तियुगमन—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मों का नाश ।^३

आशंसा—कामना, अभिलाषा ।^४

आशय—अभिप्राय, परिणाम, भावना ।^५

आशय-रत्न—प्रशस्त अभिप्राय, उत्तम भाव ।^६

१. न युज्यते प्रतिक्रियः सामान्यस्यापि तत्सत्ताम् ।

आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाछेदाधिको मतः ॥

—यो. दृ. स. १४१

उत्तम पुरुषों को साधारण मनुष्य का भी प्रतिक्रिय—विरोध, अपवाद करना समुचित नहीं है । आर्यजनों का—पूज्य पुरुषों (सर्वज्ञों) का विरोध करना तो उनको जिह्वा-छेद से भी कहीं अधिक दुःखप्रद प्रतीत होता है ।

२. यो. वि. २

३. यो. मा. ३८

४. इह लोके परलोके जीविते मरणे तथा ।

त्यक्त्वाऽऽशंसां निदानं च समाधिसुधयोक्षितः ॥

—यो. शा. ३.१५१

श्रावक ऐहिक, पारलौकिक कामना, जीवन एवं मृत्यु की आकांक्षा तथा निदान—लौकिक फल-प्राप्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले तपश्चरण का परिवर्जन कर समाधि रूपी अमृत से सिंचित रहे ।

५. यो. श. ८८

६. वासीचंदणकणं तु एत्थ सिद्धं अओच्चिय बुहेहि ।

आसयरयणं भणियं अओऽन्नहा ईसि दोसा वि ॥

—यो. श. ६१

ज्ञानी पुरुषों ने आशय-रत्न—उत्कृष्ट भाव-रूप रत्न को वासि-चन्दन के तुल्य कहा है । (चन्दन अपने को काटने वाले वसूले या कुल्हाड़े को भी अपनी सुरभि प्रदान करता है, उसी प्रकार आशय-रत्न के धारक अपकारी (बुरा करने वाले) का भी उपकार करते हैं ।

आसङ्ग-दोष—किसी एक ही योग क्रिया में आसक्त रहना आसङ्ग-दोष है।

योग-साधना में यह वांछनीय है कि योगी सभी अपेक्षित योग-क्रियाओं का यथाविधि समन्वयपूर्वक अनुसरण करे।^१

आसत्ति—प्रकृत अर्थ के साथ सम्बन्ध-योजन हेतु अनुकूल बोधपरक शब्द-सामीप्य।^२

आसन—आधार, जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि का आधार लोकाकाश है, लोकाकाश का आधार क्रमशः घनोर्दधि आदि तीन प्रतर हैं, उनका आधार अलोकाकाश है। अथवा एक अन्य अपेक्षा से इन द्रव्यों का आधार अपना अपना स्वरूप है।^३

आसनाभिग्रह—गुरु को बैठने हेतु स्वयं आसन प्रदान करना।^४

१. समाधिनिष्ठा तु परा तदासंगविवर्जिता ।

सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥

—यो. दृ. स. १७८

आठवीं परा दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है—उसमें योग का आठवां अंग समाधि सिद्ध हो जाता है। इस दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर आसंग-योगाभ्यास की किसी विशेष क्रिया में आसक्ति, जो दोष है, अपगत हो जाता है। साधक सहजतया आत्मोन्मुख प्रवृत्ति में संलग्न रहता है। चित्त आशय-वासना से विमुक्त हो जाता है।

२. आसत्तिपाटवाभ्यासस्वकार्यादिभिराश्रयन् ।

पर्यायमेकमप्यर्थं वेत्ति भावाद् बुधोऽखिलम् ॥

—अ. सा. २.६.३०

आसत्ति—सन्निधि, पटुता, अभ्यास, स्वकार्य आदि के संदर्भ में एक पर्याय का भी आश्रय लेने वाला—उसे गृहीत करने वाला ज्ञानी पुरुष भावतः समस्त पदार्थ को जानता है।

३. ध्या. श. ५२

४. आसनाभिग्रहो भक्त्या वन्दना पर्युपासना ।

तद्यानेऽनुगमश्चेति प्रतिपत्तिरियं गुरोः ॥

—यो. शा. ३.१२५-२६

गुरु को देखकर खड़े होना, उनको आते जानकर सामने जाना, मस्तक पर अंजलिबद्ध होना, बैठने हेतु उन्हें स्वयं आसन देना, उनके बैठने के बाद खुद बैठना, भक्तिपूर्वक वन्दना, पर्युपासना करना, उनके जाने पर कुछ दूर तक उनका अनुगमन करना—यह गुरुभक्ति का उपक्रम है।

आसन्नभव्य—निकट काल में मोक्षगामी ।^१

आस्तिक्य—सर्वज्ञ, वीतराग द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर सुदृढ़ आस्था ।^२

इ

इच्छा—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन योग का अभ्यास करने वाले सत्पुरुषों की कथा में, उनके सम्बन्ध में चर्चा करने में हादिक प्रसन्नता अनुभव करना, प्रीति रखना, आत्मोल्लास मानना इच्छा है, इच्छा-योग है ।^३

१. परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते ।

आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

—यो. वि. २२१

आसन-भव्य—शीघ्र मोक्षगामी, मतिमान्, श्रद्धारूपी वैभव से युक्त पुरुष परलोक-विधि में—पारलौकिक विषयों में शास्त्र के अतिरिक्त और किसी की अपेक्षा नहीं रखता (अन्य किसी का आधार नहीं लेता) ।

२. शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः ।

लक्षणैः पञ्चभिःसम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥

—यो. शा. २.१५

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य—इन पांच लक्षणों से सम्यक्त्व सम्यक् उपलक्षित होता है ।

३. तच्चजुत-कहापीडए संगया विपरिणामिणी इच्छा ।

सव्वत्थुवसमयसारं तप्पालमणो पवत्ती उ ॥

—यो. वि. ५

योगियों की कथा—चर्चा-वार्ता में प्रीति—अभिरुचि, योग-साधना के संदर्भ में अन्तरिक उल्लासपूर्ण उत्कृष्ट भाव युक्त इच्छा—उत्कंठा योग का “इच्छा” नामक भेद है ।

जहां प्रशम-भाव के साथ योग में यथार्थतः प्रवर्तन हो, योग का यथावत् पालन हो, वह योग का “प्रवृत्ति” नामक भेद है ।

बाधक चिंताओं से रहित, योग का सुस्थिर भाव से अनुसरण “स्थिरता” नामक भेद हैं ।

जीवन में साधित योग जब योगी के संपर्क में आने वालों को सहजतया उत्प्रेरित करने की क्षमता प्राप्त कर ले, तब वह सिद्धि-योग कहा जाता है । (वह योग का सिद्धि नामक भेद है ।)

इच्छा-परिक्षय—भोग्य विषयगत आसक्ति का त्याग ।^१

इच्छा-योग—योगदृष्टिसमुच्चय में बताये गये इच्छा-योग, शास्त्र-योग तथा सामर्थ्य-योग—इन तीन भेदों में प्रथम, जहां साधक का, जिसने शास्त्रों का रहस्य सुना है, जो धर्म की तीव्र उत्कण्ठा लिये होता है, पर अन्त-वर्ती प्रमाद के कारण जिसका धर्मारोधन विखण्डित रहता है ।^२

इडा—हठयोग में स्वीकृत तीन विशिष्ट नाड़ियों में एक । यह बाईं ओर मानी गई है । हठयोग के अनुसार इसमें चन्द्रमा का स्थान है ।^३

१. यथा कण्डूयनेष्वेषां धीर्न कच्छन्निवर्तने ।

भोगांगेषु तथैतेषां न तदिच्छापरिक्षये ॥

—यो. दृ. स. ८१

पांव (खुजली) से पीड़ित मनुष्य पांव को खुजलाते रहते हैं । उनकी बुद्धि केवल खुजलाने में होती है, पांव को मिटाने में नहीं । उसी प्रकार भवाभिनन्दी—संसार में रचे-पचे जीवों की बुद्धि भोग्य विषयों में ही रहती है, भोग की इच्छा को मिटाने में नहीं ।

२. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रभादिनः ।

विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥

—यो. दृ. स. ३

जो धर्मारोधना की इच्छा रखता है, जिसने शास्त्र-श्रवण किया है, वैसे ज्ञानी पुरुष का प्रमाद के कारण विकल—अपरिपूर्ण (संपूर्णतः नहीं) सध पाने वाला धर्म-योग (धर्मोद्योग) इच्छायोग कहा जाता है ।

३. (क) इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा चेति नाडिकाः ।

शशिसूर्यशिवस्थानं वामदक्षिणमध्यगाः ॥

—यो. शा. ५.६१

(ख) इडा वामे स्थिता भागे पिंगला दक्षिणे स्थिता ।

सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥

—गो. सं. १.२८

(क) इडा, पिंगला तथा सुषुम्णा नामक तीन नाड़ियां हैं । इडा बाईं ओर है, पिंगला दाहिनी ओर । दोनों के बीच में सुषुम्णा है । इडा चंद्र-स्थान, पिंगला सूर्य-स्थान तथा सुषुम्णा शिव-स्थान (मोक्ष-स्थान) मानी जाती हैं ।

(ख) इडा वाम भाग में, पिंगला दक्षिण भाग में, सुषुम्णा मध्य भाग में तथा गान्धारी वाम नेत्र में स्थित है ।

इष्टापूर्त—दान का एक विशेष प्रकार । ऋत्विजों—यज्ञाधिकृत ब्राह्मणों द्वारा इतर ब्राह्मणों की उपस्थिति में वेदी के अन्तर्वर्ती स्थान में यथाविधि जो दान दिया जाता है, उसे इष्ट कहा जाता है ।

वापी, कूप, तडाग, देवस्थान आदि का निर्माण तथा अन्न-दान आपूर्त कहा जाता है ।

इष्ट और आपूर्त—ये दोनों शब्द प्रायः एक साथ प्रयुक्त होते हैं ।^१

ई

ईर्या—जीवों की हिंसा, विराधना न हो, इस हेतु आगे की भूमि देख-देखकर यतनापूर्वक चलना ।^२

ईश—योगीश्वर ।^३

१. ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः ।

अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।

अन्नप्रदानमेतत्तु पूर्तं तत्त्वविदो विदुः ॥

—यो. दृ. ११६, ११७

यज्ञाधिकृत ब्राह्मणों द्वारा मन्त्र-संस्कार के साथ अन्य ब्राह्मणों के समक्ष वेदी-क्षेत्र के दायरे में जो दान दिया जाता है, वह “इष्ट” कहलाता है ।

वावड़ी, कूप सरोवर एवं देवायतन का निर्माण करवाना, अन्न प्रदान करना “पूर्त” है । तत्त्ववेत्ता ऐसा बतलाते हैं ।

२. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः ।

जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता सताम् ॥

—यो. शा. १.३६

जो मार्ग लोगों से अतिवाहित हो—जिस पर लोगों का आना-जाना हो चुका हो, जो सूर्य की किरणों द्वारा स्पष्ट हो—जिस पर सूर्य की किरणें पड़ती रही हों, उस पर, प्राणियों की रक्षा का ध्यान रखते हुए (आगे की चार हाथ परिमित भूमि) देख-देख कर चलना ईर्या समिति है, जो साधु जनों द्वारा सम्मत—समर्थित है ।

३. यो. मा. १६

उ

उच्छ्रय—काय, देह ।^१

उच्छ्रित—उन्नत, ऊंचा उठा हुआ ।^२

उच्छ्रान्त—त्याग, छोड़ना ।^३

उड्डीन—उड़ा हुआ । उन्मनीभाव को प्राप्त योगी को ऐसा अनुभव होता है, मानो उसका शरीर बिखर गया है, भस्म हो गया है, 'उड़ गया है', विलीन हो गया है ।^४

उत्कटिकासन—जमीन से लगी दोनों एड़ियों के साथ जहां दोनों नितम्ब मिलते हैं, वह उत्कटिकासन होता है । जहां एड़ियां जमीन से लगी न रहें, वहां वही आसन गोदुहासन हो जाता है ।^५

उत्कृष्ट—सर्वाधिक ।^६

१. का. श. १४६०

२. का. श. १४७३

३. का. श. १४६५

४. विश्लेष्यमिव प्लुष्टमिवोड्डीनमिव प्रलीनमिव कायम् ।

अमनस्कोदयसमये योगी जानात्यसत्कल्पम् ॥

यो. शा. १२.४२

अमनस्कता के उदित होने पर योगी अपने शरीर के सम्बन्ध में अनुभव करने लगता है, मानो वह बिखर गया हो, भस्म हो गया हो, उड़ गया हो, प्रलीन हो गया हो, मानो उसका अस्तित्व ही नहीं रह पाया हो ।

५. पुतपाष्णिंसमायोगे प्राहुरत्कटिकासनम् ।

पाष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे तत्स्याद् गोदोहिकासनम् ॥

—यो. शा. ४.१३२

दोनों एड़ियां तथा दोनों नितम्बों के योग से—दोनों पैरों की एड़ियां जमीन से लगी हों, दोनों नितम्ब उनसे मिलते हों, तब उत्कटिकासन होता है ।

जब एड़ियां भूमि का त्याग कर दें—जमीन से लगी हुई न रहें, वैसी देह-स्थिति गोदोहिकासन कहलाती है ।

६. का. श. १४७२

उत्कृष्टकायबन्ध—वज्र, ऋषभ, नाराच रूप उत्तम संहनन, अति दृढ़, प्रशस्त दैहिक परिगठन ।^१

उत्क्रान्ति—ऊर्ध्वगामिता, शक्तिमत्ता ।^२

उत्तर—कतिपय आचार्यों के मत में प्राणायाम का एक विशेष भेद, जहां बाहर की वायु का पानकर उसे ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर धारण करना होता है ।^३

१. उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्ततः ।

ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥

—ज्ञाना. २५.१५

उत्कृष्ट-काय-बन्ध—उत्तम संहनन—वज्र-ऋषभ-नाराच, अर्ध-वज्र-ऋषभ-नाराच एवं नाराच—इनमें से किसी एक दैहिक गठन-युक्त साधक के एकाग्रचिन्ता-निरोध-रूप ध्यान अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त टिकता है । ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुष बतलाते हैं ।

२. उत्क्रान्तिर्वारि-पङ्काद्यैश्चाबाधोदान-निर्जये ।

जये व्यानस्य शीतोष्णासंगः कान्तिररोगिता ॥

—यो. शा. ५.२४

उदान-वायु को जीत लेने पर मनुष्य में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि यदि वह चाहे तो मृत्यु के समय उत्क्रान्ति—अर्चिमागं दशम द्वार से प्राण-त्याग कर सकता है । उसकी देह, जल, कर्दम आदि से बाधा नहीं पाती । उसके कांटा नहीं गड़ता, नहीं चुभता ।

व्यान वायु को जीत लेने पर देह पर सर्दी-गर्मी का प्रभाव नहीं पड़ता । शरीर में कान्ति झलकने लगती है । कोई बीमारी नहीं आती ।

३. आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।

उत्तरः स सभाख्यातो विपरीतस्ततोऽधरः ॥

—यो. शा. ५.६

बहिर्वर्ती वायु का पानकर, उसे ऊपर की ओर खींचकर हृदय आदि में धारण करना (स्थापित करना) उत्तर प्राणायाम है । उससे उलटा—वायु को ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर धारण करना—स्थापित करना अधर प्राणायाम है ।

उत्तीर्णाशय—प्रवृत्ति से उत्तीर्ण—प्रवृत्तिमूलक वासना से रहित । योगदृष्टि-समुच्चय में वर्णित 'परा' दृष्टि का यह विशेषण है, जहाँ (परा दृष्टि में) योगी के चित्त में प्रवृत्ति मूलक वासना का उद्भव नहीं होता ।^१

उत्पन्न-दोष—रौद्र-ध्यान के हिसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी तथा विषयसंरक्षणानुबन्धी—इन चार भेदों में से किसी एक में बहुलतया प्रवृत्त रहना । उसे उत्पन्न-दोष कहा जाता है ।^२

उत्पाद—द्रव्य द्वारा पूर्व पर्याय छोड़कर नवीन पर्याय ग्रहण किया जाना ।^३

उत्प्रेक्षा-जाल—संकल्प-विकल्पमूलक चिन्ता-जाल ।^४

उत्सन्नक्रिय—शुक्लध्यान के चार भेदों में चौथा—उत्सन्नक्रिय-अप्रतिपाति । जब केवली मेरु की भांति निष्प्रकम्प, सुस्थिर शैलेशीदशा प्राप्त कर लेते हैं, उस समय सघने वाला परम शुक्ल-ध्यान ।^५

१. समाधिनिष्ठा तु परा तदासंगविवर्जिता ।

सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥ —यो. दृ. स. १७८

परादृष्टि में योग का आठवां अंग समाधि फलित होता है । यहां आसंग—योग के किसी एक ही क्रिया-विशेष में आसक्ति, जो दोष है, अपगत हो जाती है । शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभावक आचरण सहज रूप में गतिशील रहता है । चित्त वासना से ऊपर उठ जाता है ।

२. ध्या. श. २६

३. ध्या. श. ५२

४. यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।

मूलं दुःखस्य तन्नाशे, शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥

—स. श. ८५

चित्त में उत्पन्न होते अन्तर्जल्प—विविध प्रकार के ऊहापोह, उत्प्रेक्षा-जाल—कल्पनाओं के जाल—संकल्प-विकल्प आत्मा के लिए दुःख के मूल कारण हैं । परम पद—अपने चैतन्य-स्वरूप शुद्धात्मभाव में अवस्थित होना ही इनके नाश का उपाय है, जो श्रेयस्कर है । महापुरुषों ने ऐसा उपदिष्ट किया है ।

५. केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य ।

उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीयं परमशुक्लम् ॥

—यो. शा. ११.६

पर्वत की तरह अकम्पनीय शैलेशी-दशा प्राप्त केवली का ध्यान उत्सन्नक्रिय-अप्रतिपाति कहा जाता है, जो शुक्ल-ध्यान का चौथा भेद है ।

उत्सर्ग—त्याग, छोड़ना ।^१

उदान—रस आदि को ऊपर ले जाने वाला वायु । वायु के पांच भेदों में चौथा भेद । वह रक्त वर्ण का माना गया है । उसका स्थान हृदय, कण्ठ, तालु, भृकुटि का मध्य भाग तथा मस्तक है ।^२

उद्गम-विगम-हति—उत्पत्ति-विनाश या जन्म-मरण का अभाव ।^३

उद्धि—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में ग्यारहवां दोष । एड़ियों को सटा कर, पंजों को फैलाकर खड़ा होना बाह्य उद्धि है । दोनों पैरों के अंगूठों को सटाकर, एड़ियों को फैलाकर खड़ा होना आभ्यन्तर उद्धि है ।^४

उन्मनीभाव—मन का ऊर्ध्वीकरण, आत्मलीनता, तन्मयता ।^५ प्राणवायु के सुषुम्णा के मध्य संचार होने से उत्पन्न मनःस्थिरता ।

१. का. श. १४६५

२. रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रू-मध्यमूचिनचसंस्थितः ।

उदानो वश्यतां नेयो गत्यागति-नियोगतः ॥

—यो. शा. ५.१८

रक्त-वर्ण, हृदय, कंठ, तालु, भ्रुवों के मध्यभाग एवं मस्तक पर संस्थित उदानवायु के गमन-आगमन को रोककर उसे वश में करना चाहिए (नियंत्रित करना चाहिए) ।

३. यो. मा. ३८

४. का. श. १५६०

५. (क) एकान्तेऽति पवित्रे रम्ये देसे सुखासीनः ।

आचरणाग्रशिखाग्रात् शिथिलीभूताखिलावयवः ॥

रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कलमनोज्ञाम् ।

जिघ्रन्नपि च सुगन्धोन्यपि भुञ्जानो रसास्वादम् ।

भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि चेतसो वृत्तिम् ।

परिकलितौदासीन्यः प्रणष्ट-विषय-भ्रमो नित्यम् ॥

बहिरन्तश्च समन्तात् चिन्ता-चेष्टा-परिच्युतो योगी ।

तन्मयभावं प्राप्तः कलयति भृशमुन्मनीभावम् ॥

—यो. शा. १२.२२-२५

(ख) मारुते मध्यसंचारो मनःस्थैर्यं प्रजायते ।

यो मनःसुस्थिरोभावःसंवावस्था मनोन्मनी ॥

—ह. यो. प्र. २.४२

(ग) शंखकुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ।

काण्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥

—ह. यो. प्र. ४.१०६

उन्मार्ग—विपरीत मार्ग ।^१

उन्मोचन—त्याग, छोड़ना ।^२

उपग्रह-विरह—गति-सहायक धर्मास्तिकाय का अभाव ।^३

(क) एकान्त, अत्यन्त पावन, सुन्दर-शान्त स्थान में सुखासन में स्थित योगी जब पैर के अंगूठे से लेकर शिखाग्र-मस्तकाग्र पर्यन्त (एड़ी से चोटी तक) अपनी देह के सब अंगों को शिथिल किये हुए कान्त—कमनीय, सुन्दर रूप का दर्शन करता हुआ भी, मधुर, मनोहर वाणी का श्रवण करता हुआ भी, सुरभिit वस्तुओं को सूंघता हुआ भी, सरस पदार्थों का आस्वादन करता हुआ भी, मृदु—सुकोमल उपकरणों का स्पर्श करता हुआ भी, चैतसिक वृत्ति को न रोकता हुआ भी उदासीन भाव से युक्त होता है, उसकी विषयासक्ति सदा के लिए नष्ट हो जाती है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर चिन्ताओं, चेष्टाओं से छूट जाता है, आत्म-भाव में तन्मय होता है, तब वह अत्यधिक उन्मनीभाव अधिगत कर लेता है ।

(ख) वायु का मध्य में संचार होने से मन में स्थिरता उत्पन्न होती है । मन का सुस्थिर भाव मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है ।

(ग) उन्मनी अवस्था में योगी शंख, दुन्दुभि (नगाड़े) आदि की ध्वनि का कदापि श्रवण नहीं करता । निश्चय ही उसका शरीर काठ के सदृश जडवत् बन जाता है ।

१. पूर्वमार्गं न मोक्षोऽस्ति पश्चिमेऽपि न विद्यते ।

उन्मार्ग उन्मनीभावे मुक्तिः स्थान्मार्गवर्जिताः ॥

—यो. प्र. ५८

मोक्ष न पूर्व-मार्ग में है और न पश्चिम-मार्ग में ही । वह उन्मनीभाव में है, जो ऊर्ध्वगामी मार्ग है । अन्य मार्गों द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं होता ।

२. का. श. १४६५

३. नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि वा नैव गौरवाभावात् ।

योग-प्रयोग-विगमात् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥

—यो. शा. ११.५६

सिद्ध आत्मा लोक से ऊपर अलोक (अलोकाकाश) में नहीं जाती, क्योंकि वहां उपग्रह-आलम्बन—धर्मास्तिकाय का अभाव है । वह नीचे भी नहीं जाती क्योंकि उसमें गौरव-गुरुता (भारीपन) नहीं होती । वह तिरछी दिशा में भी नहीं जाती क्योंकि उसमें योग-प्रयोग-विगम—योग प्रवृत्ति का आत्यन्तिक अभाव है ।

उपाघातानुग्रह—दुष्प्रभाव-सुप्रभाव ।^१

उपचय—जो क्रमशः बढ़ता है—काय, देह ।^१

उपचार—शुद्ध योगनिष्ठ साधकों की भोजन, वस्त्र, स्थान आदि द्वारा सेवा, परिचर्या ।^१

उपनयन—पूर्वापर श्रुतार्थ-सम्बन्ध के स्मृतियुक्त बोध का आलम्बन ।^१

उपप्लव—विघ्न, आपत्ति, बाधा या संकट ।^१

१. मुत्तेणममुत्तिमओ उवघायाणुगहा विजुज्जंति ।

जह विन्नाणस्स इहं मइरापाणोसहाईहि ॥

—यो. श. ५६

जैसे मदिरा-पान, औषधि-सेवन आदि का चेतना पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार मूर्त्त कर्म का अमूर्त्त आत्मा पर शुभ (अनुकूल, प्रिय) अशुभ (प्रतिकूल, अप्रिय) प्रभाव पड़ता है ।

२. का. श. १४६०

३. यथाशक्त्युपचारश्च योगवृद्धिफलप्रदः ।

योगिनां नियमादेव तदनुग्रहधीयुतः ॥

—यो. दू. स. ४३

(शुद्ध योगनिष्ठ पुरुषों के बहुमान के साथ-साथ) वह साधक यथाशक्ति उपचार—उनकी सेवा का भाव लिये रहता है (उनकी सेवा करता है) । इससे उसे निश्चित रूप में उत्तम योगियों का अनुग्रह प्राप्त होता है । फलतः उसकी योग-साधना में अभिवृद्धि होती जाती है ।

४. आगमार्थोपनयनाज्ज्ञानं प्राज्ञस्य सर्वगम् ।

कार्यादेर्व्यवहारस्तु नियतोत्प्लेखशेखरः ॥

—अ. सा. २.६.३३

आगम-प्रतिपादित अर्थ—तत्त्व के उपनय—आश्रय, परिग्रहण से प्राज्ञ—प्रकृष्ट बुद्धिशील पुरुष का ज्ञान सर्वगामी होता है । उस ज्ञान का कार्य आदि में व्यवहार, क्रियान्वयन निश्चय ही उसे शोभित करने वाला शेखर—सेहरा (कलंगी) है ।

५. अब्राह्मं केवलं ज्योतिरिवाबाधसनामयम् ।

यदत्र तत्परं तत्त्वं शेषः पुनरुपप्लवः ॥

—यो. दू. स. १५७

अन्तरात्मा में विद्यमान निर्बाध, निर्दोष बोध-ज्योति ही परम तत्त्व है । उसके अतिरिक्त और सब उपप्लव—संकट (बाधा) है ।

उपयोग—शास्त्र-प्रतिपादित क्रिया को सत्य मानते हुए, उसमें निष्ठा रखते हुए, साधना-पथ पर अग्रसर होना ।^१

उपरत्ति—व्यावृत्ति, विनाश ।^२

उपशमसार—सत्कार्यों के करने में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों के उप-शान्त हो जाने पर मन में जो शान्ति उत्पन्न होती है, उससे अनुप्रेरित हो योग के मार्ग पर अग्रसर होना, तदनुरूप क्रियाओं के परिपालन में संप्रवृत्त होना ।^३

उपश्रुति—आभ्यन्तर श्रवण ।^४

१. उचओगो पुण एत्थं विन्नेओ जो समीव जोगोत्ति ।

विहियकिरियागओ खलु अवितहभावो उ सव्वत्थ ॥

—यो. श. ७६

उप—निकट, योग—प्रवृत्ति, कर्म-व्याप्ति—यदि उपयोग का यह अर्थ लें तो इसका आशय विहित क्रिया—शास्त्र-सम्मत आचार का सामीप्य प्राप्त करना—उसे सत्य मानना, उस ओर उद्यमशील होना (अग्रसर होना) निष्पन्न होता है ।

२. यो. मा. ३४

३. यो. वि. ५

४. अथवोपश्रुतेविन्धाद् विद्वान् कालस्य निर्णयम् ।

प्रशस्ते दिवसे स्वप्नकाले, शस्तां दिशां श्रितः ॥

पूत्वा पंच नमस्कृत्याचार्यमन्त्रेण वा श्रुती ।

गेहाच्छन्न-श्रुतिर्गच्छेत् शिल्पिचत्वरभूमिषु ॥

चन्दनेनार्चयित्वा क्षमां क्षिप्त्वा गन्धाक्षतादि च ।

सावधानस्ततस्तत्रोपश्रुतेः शृणुयाद् ध्वनिम् ॥

अर्थान्तरापदेश्यश्च स्वरूपश्चेति स द्विधा ।

वितर्शगम्यस्तत्राद्यः स्फुटोक्तार्थोऽपरः पुनः ॥

यथैष भवन्-स्तंभः पंच-षड्भिरयं दिनैः ।

पक्षैर्मसैरथो वर्षैर्भक्ष्यते यदि वा न वा ॥

मनोहरतरश्चासीत् किन्त्वयं लघु भक्ष्यते ।

अर्थान्तरापदेश्यः स्यात् एवमादिरुपश्रुतिः ।

एषा स्त्री पुरुषो वाऽसौ स्थानादस्मान् यास्यति ।

दास्यामो न वयं गन्तुं गन्तुकामो न चाप्ययम् ॥

विद्यते गन्तुकामोऽयमहं च प्रेषणोत्सुकः ।

तेन यास्यत्यसौ शीघ्रं स्यात् स्वरूपेत्युपश्रुतिः ॥

कर्णोद्घाटनसंजातोपश्रुत्यन्तरात्मनः ।

कुशलाः कालमासन्नमनासन्नं च जानते ॥

—यो. शा. ५.१८८-९६

विद्वान् उपश्रुति द्वारा काल-निर्णय करे । उसका विधिक्रम इस प्रकार है—

जब भद्रा आदि अशुभ योग न हों, ऐसे उत्तम दिन में शयन के समय—एक प्रहर रात बीत जाने पर वह विद्वान् पुरुष पूर्व, उत्तर या पश्चिम दिशा में जाए । वह जाते समय नमस्कार महामंत्र को पांच बार जपकर अपने दोनों कानों को पवित्र करे । फिर अपने कानों को इस प्रकार बन्द कर ले कि उसे किसी का शब्द सुनाई न पड़े । वह शिल्पियों के मौहल्ले या बाजार की तरफ उक्त दिशाओं में जाए । वहां जाकर भूमि को चन्दन से चर्चित करे, गन्ध-अक्षत डाले । सावधान होकर कान खोलकर शब्दों का श्रवण करे । वे शब्द दो प्रकार के हो सकते हैं—अर्थान्तरापदेश्य-उपश्रुति तथा स्वरूप-उपश्रुति ।

अर्थान्तरापदेश्य-उपश्रुति वह है, जो अभीष्ट अर्थ को साक्षात् प्रकट न करे, किन्तु चिन्तन-विमर्श करने पर जिससे अभीष्ट अर्थ प्रकट हो । स्वरूप-उपश्रुति वह है, जो अभीष्ट अर्थ को साक्षात् प्रकट करे—जो जिस रूप में श्रवण-गोचर हो, उसी रूप में अभीष्ट अर्थ प्रकट हो ।

अर्थान्तरापदेश्य-उपश्रुति को यों समझा जाना चाहिए—इस घर का स्तंभ पांच-छः दिनों में, पांच-छः पक्षों में, पांच-छः मासों में या पांच-छः वर्षों में भग्न हो लायेगा—टूट जायेगा अथवा नहीं टूटेगा । यह स्तंभ बड़ा सुन्दर था, किन्तु यह शीघ्र ही भग्न हो जायेगा ।

उक्त प्रकार की उपश्रुति अर्थान्तरापदेश्य उपश्रुति कहलाती है । इस उपश्रुति से अपने आयुष्य का अनुमान कर लेना चाहिए । जितने दिनों में स्तम्भ भग्न होने की आवाज सुनाई दे, उतने ही दिनों का आयुष्य और समझना चाहिए ।

स्वरूप-उपश्रुति इस प्रकार है—

यह महिला इस स्थान से नहीं जायेगी । वह पुरुष यहां से नहीं जायेगा । हम उसे नहीं जाने देंगे । वह नहीं जाना चाहता । अथवा अमुक यहां से जाना चाहता है । मैं उसे भेज देना चाहता हूं । अब वह शीघ्र ही चला जायेगा ।

इस उपश्रुति द्वारा भी आयुष्य का निर्णय होता है । इसका तात्पर्य यह है कि यदि जाने की बात कर्णगोचर होती है तो जान लेना

उपसर्ग—दूसरों द्वारा दिये गये घोर कष्ट ।^१

उपादेयधी—ग्रहण करने योग्य, स्वीकार करने योग्य तथ्यपरक बुद्धि ।^२

उपाय-कौशल—अपने साधनोचित, सात्त्विक क्रिया-कलाप में योगी की कुशलता—निपुणता ।^३

उपास्ति—उपासना, सेवा ।^४

चाहिए कि अब आयुष्य की समाप्ति समीप है । यदि न जाने या न जाने देने की बात सुनाई पड़े तो जानना चाहिए कि आयुष्य का अन्त अभी समीप नहीं है ।

इस प्रकार कान खोलकर स्वयं सुनी हुई उपश्रुति से योग्य पुरुष यह निर्णय कर सकते हैं कि उनका मृत्यु-काल आसन्न—निकट है या अनासन्न—दूर ।

१. परीषहोपसर्गोभ्यो निर्भीको जिनभक्तिभाक् ।

प्रतिपद्येत मरणमानन्दः श्रावको यथा ॥ —यो. शा. ३.१५२

परीषहों—अपने आप आये हुए संकटों, उपसर्गों—दूसरों द्वारा दिये गये घोर कष्टों से निडर, जिनेश्वर की भक्ति में लीन श्रावक (उपासकदशांगसूत्र में वर्णित) श्रमणोपासक आनन्द की तरह समाधि-मरण प्राप्त करे ।

२. उपादेयधियाऽत्यन्तं संज्ञाविष्कम्भगान्वितम् ।

फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥

—यो. दू. स. २५

अत्यन्त उपादेयताप्रधान बुद्धि द्वारा आहार आदि संज्ञाओं के निरोध से युक्त, फल की अभिसन्धि—कामना से रहित स्थिति संशुद्धता का लक्षण है ।

३. शुभयोगसमारम्भे न क्षेपोऽस्यां कदाचन ।

उपायकौशलं चापि चाह तद्विषयं भवेत् ॥

—यो. दू. स. ५५

बला दृष्टि प्राप्त कर लेने पर योगी की ध्यान आदि शुभ योगात्मक प्रवृत्ति में क्षेप—विघ्न नहीं आता । वह अपने उत्तम आचरण—योगाभ्यास में उपाय—कौशल-निपुणता, कुशलता प्राप्त कर लेता है ।

४. अथवा गुरुप्रसादादिहैव तत्त्वं समुन्मिषति नूनम् ।

गुरुचरणोपास्तिकृतः प्रशमजुषः शुद्धचित्तस्य ॥ यो. शा. १२.१४

जिसको पूर्व-भव के उच्च संस्कार प्राप्त नहीं हैं, वह गुरु-चरणों की उपासना, प्रशम भाव के सेवन—अनुभवन तथा शुद्ध-चित्त होने के कारण गुरु की कृपा से यहीं तत्त्व—आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है ।

उपेयमधुरत्व—प्राप्य या लक्ष्य की उत्तमता ।^१

उभयकुलासंगम—उच्च कुल तथा नीच कुल—दोनों से सम्बन्ध मिटना, जो गोत्र-कर्म का नाश होने से सधता है ।^२

ऊ

ऊर्ण—योग का अभ्यास करते समय तत्सम्बन्धी क्रिया-प्रक्रिया के साथ विशिष्ट सूत्र—संक्षिप्त शब्द-समूह के उच्चारण करते रहने का जो एक क्रम स्वीकृत है, उसे ऊर्ण-योग कहा गया है ।^३

ऊर्ध्वगत्यात्मकत्व—ऊर्ध्व-गमन-स्वभाव ।^४

ऊहप्रधान—चिन्तन-विमर्श में विशेषतः संलग्न ।^५

१. सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः ।

ज्ञानीनां नित्यमानन्द-वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥

ज्ञा. सा. तपोऽष्टक ४

सत्—श्रेष्ठ—आत्माभ्युदय के हेतुभूत उपाय—साधनाभ्यास में प्रवृत्त, तपोनिष्ठ ज्ञानीजनों का आत्मानन्द उपेय—लक्ष्य की मधुरता—पवित्रता के कारण सदा बढ़ता जाता है ।

२. यो. मा. ३६

३. यो. वि. २

४. यो. मा. ३५

५. एवमूहप्रधानस्य प्रायो मार्गानुसारिणः ।

एतद् वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥

—यो. वि. १६६

ऊहप्रधान—विशेषतः चिन्तन-विमर्श-परायण, मार्गानुसारी—योग-मार्ग का अनुसरण करने वाला साधक प्रकृति और पुरुष के वियोग—आत्मा जिसे परिगृहीत कर कर्म-बन्धन से छूट सके, वैसे अभियान पर अग्रसर होता है ।

ऋ

ऋजुश्रेणी—मोड़रहित, सीधी गति ।^१

ऋज्वायत—सीधा और लम्बा ।^२

ए

एकत्व-वितर्काविचार—शुक्ल-ध्यान के चार भेदों में दूसरा भेद । वायुरहित घर में स्थित दीपक की भांति जो चित्त निष्कम्प रहता हुआ, उत्पाद, स्थिति तथा भंग में से किसी एक पर्याय में अतिशय स्थिर होता है, अथवा किसी एक शब्द या अर्थ को लेकर एकाग्र चिन्तन-रत होता है, वह एकत्व-वितर्क-अविचार, शुक्ल-ध्यान है । वह अर्थान्तर, व्यञ्ज-नान्तर तथा योगान्तर के संक्रमण से रहित होने के कारण 'अविचार' श्रेणी में आता है । वह अभेद-प्रधान है ।^३

१. लघु-वर्ण-पञ्चकोद्गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम् ।

क्षयति युगपत् परितो वेद्यायुर्नामगोत्राणि ॥

औदारिक-तैजस-कार्मणानि संसारमूलकारणानि ।

हि त्वेह ऋजुश्रेण्या समयेनैकेन याति लोकान्तम् ॥

यो. शा. ११.५७.५८

अयोग-केवल-गुणस्थानगत साधक अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना काल-क्षेप होता है, उतने काल पर्यन्त शैलेशी-अवस्था—मेरु पर्वत के सदृश निश्चल, अप्रकम्प अवस्था प्राप्त किये एक साथ वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र कर्म का संपूर्ण क्षय कर देता है । साथ ही औदारिक, तैजस एवं कार्मण रूप स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का परित्याग कर ऋजुता-श्रेणी—मोड़रहित सीधी गति से वह एक ही समय में लोक के अग्रभाग में सिद्ध-स्थान पर पहुंच जाता है ।

२. अगाधकरुणाम्भोधो भग्नसंविग्नमानसः ।

ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत् ॥

—ज्ञाना. २८.३७

वह योगी, जिसका मन करुणा के अगाध समुद्र में निमग्न है, अपने शरीर को दीवार पर अंकित चित्र की तरह ऋजु—सीधा और आयत—लम्बा रखे ।

३. ध्या. श. ८०

एकत्वोहाविचार—एकत्व-वितर्कविचार ।^१

एकप्रत्ययसंगत—एकाकार-स्थितिप्राप्त ।^२

एकाग्र—चित्त के पांच भेदों में चौथा भेद । समाधि में स्थिर चित्त ।^३

एकान्ततुच्छता—सर्वथा सारहीनता ।^४

एकान्तनित्यत्व—सर्वथा अपरिणमनशील स्वभावत्व ।^५

१. यो. मा. २६

२. स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे वा निराकृते ।

ध्यानं ध्यायेत् स्थिरं चित्तमेकप्रत्ययसंगते ॥

यो. प्र. १३६

स्थूल, सूक्ष्म, साकार—मूर्त, निराकार—मूर्त, किसी एक लक्ष्य—ध्येय का अवलम्बन कर एकाग्रता व स्थिरता ध्यान करना चाहिए ।

३. अद्वेषादिगुणवतां नित्यं खेदादिदोषपरिहारात् ।

सदृशप्रत्ययसंगतमेकाग्रं चित्तमाप्नोति ॥

—अ. सा. ७.२०.७

अद्वेष (किसी के साथ द्वेषभाव, ईर्ष्याभाव न रखना) आदि गुणयुक्त साधकों का चित्त, जो खेद (योगाभ्यास में परिश्रान्ति का अनुभव) आदि दोषों का परिवर्जन कर सदा ध्येयोन्मुख वृत्तियुक्त, तदनुरूप परिणामयुक्त बना रहता है, उसे एकाग्र कहा गया है ।

४. नैरात्म्यदर्शनं कस्य को वाऽस्य प्रतिपादकः ।

एकान्ततुच्छतायां हि प्रतिपाद्यस्तथेह कः ॥

—यो. बि. ४६५

यदि आत्मा का एकान्ततः अभाव हो तो (प्रश्न उपस्थित होता है) नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त का कौन अनुभव करे, कौन प्रतिपादन करे और किसके समक्ष उसे प्रतिपादित किया जाए ?

५. न च हिंसापदं नाशपर्यायं कथमप्यहो ।

जीवस्यैकान्तनित्यत्वेऽनुभवाबाधकं भवेत् ॥

—अ. सा. ४.१२.२७

जीव को एकान्तरूप में नित्य मानने से नाश का पर्यायवाची हिंसा शब्द किसी भी तरह अनुभव का अबाधक नहीं होगा अर्थात् बाधक ही होगा । (जिससे हिंसा नाश का पर्याय सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि एकान्त-नित्य का नाश सम्भव नहीं है, परिणामि-नित्य का ही नाश सम्भव है) ।

एकान्त-परिशुद्धि—सर्वथा शुद्ध स्थिति ।^१

एकान्त-सिद्धि—सर्वथा निश्चितरूपेण सिद्धावस्था की प्राप्ति ।^२

एकान्तानुबन्धन—एकान्त रूप में दोषापगम का क्रम ।^३

१. असंमोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।

निर्वाणफलदान्याशु भवातीतार्थयायिनाम् ॥

—यो. दृ. स. १२६

मोहवर्जित अवस्था में होने वाले कर्म एकान्ततः—सर्वथा परि-
शुद्ध होते हैं । भवातीत अर्थ—संसार से अतीत पदार्थ—परम पद,
परम तत्त्व का साक्षात्कार करने हेतु गतिशील साधकों के लिए वे
(कर्म) मोक्षरूप-फल-प्रदायक हैं ।

२. जइ तब्भवेण जायइ जोगसमत्ती अजोगयाए तओ ।

जम्माइदोसरहिया होइ सदेगंतसिद्धित्ति ।

—यो. श. ६२

यदि योगी के उसी भव में, जिसमें वह स्थित है, योग-समाप्ति
—योग-साधना की परिपूर्ण उपलब्धि हो जाए तो वह अयोगता—
अयोगावस्था पा लेता है, मन, वचन एवं शरीर के योग से—कर्म-
कलाप से अतीत हो जाता है । वह निश्चित रूप से जन्म-मरण-आवा-
गमन—दोष-रहित सिद्धि—सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है ।

३. त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं सच्छास्त्रपरतन्त्रता ।

सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्च तथाऽत्रैव प्रचक्षते ॥

विषयात्मानुबन्धैस्तु त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् ।

अनुष्ठानं प्रधानत्वं ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥

आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं क्रियते पतनाद्यपि ।

तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥

द्वितीयं तु यमाद्येव लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।

न यथाशास्त्रमेवेह सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥

तृतीयमप्यदः किन्तु तत्त्वसंवेदनानुगम् ।

प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥

आद्यान् दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगतः ।

तद्योगजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥

मुक्ताविच्छाऽपि यच्छ्लाघ्या तमः क्षयकरी मता ।

तस्याः समन्तभद्रत्वाद् अनिदर्शनमित्यदः ॥

द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वेकान्तानुबन्धनात् ।

गुह्यलाघवचिन्तादि न यत् तत्र नियोगतः ॥

—यो. बि. २१०-१७

सत्शास्त्रों की आज्ञा का अनुसरण, शास्त्रों में सम्यक् प्रत्यय—
दृढ़ आस्था तथा तदनुसार वर्तन (आचरण)—ये शुद्ध अनुष्ठान के
आधार हैं। शुद्ध-अनुष्ठान तीन प्रकार का है—

शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध भाव—उपक्रम तथा शुद्ध अनुबन्ध—अवरोध
वर्जित आगे चलती शृंखला। शुद्ध अनुष्ठान के ये तीन रूप हैं। तीनों
उत्तरोत्तर एक दूसरे से प्रधान, मुख्य या श्रेष्ठ हैं।

मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से गिरि-पतन—पर्वत के शिखर से
कूदना आदि प्रथम भेद में आते हैं। कूदने वाले ने जिस किसी रूप में
मोक्ष की सत्ता, उपादेयता तो स्वीकार की ही है। ऐसा उसके इस
प्रयत्न से प्रतीत होता है। अतएव उसे शुभ माना गया है।

दूसरे अनुष्ठान में लोक दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
तथा अपरिग्रह रूप यम आदि के यथोचित पालन का समावेश है। किंतु
सम्यक् ज्ञान (सम्यक् दर्शन) आदि न होने से वह शास्त्र-सम्मत नहीं
होता।

तीसरे अनुष्ठान के अन्तर्गत अहिंसा आदि यमों के सम्यक् दर्शन
एवं सम्यक् ज्ञान पूर्वक परिपालन का समावेश है। वहां विद्यमान
साधक सम्यक् तत्त्वबोध युक्त होता है। उसकी वृत्ति में—व्यवहार
में—प्रशान्त भाव विद्यमान रहता है। यह सब तो होता है किन्तु
वह योगाभ्यास में तीव्र उत्सुकता लिए नहीं होता (उसके मन में योग
साधना के प्रति सुदृढ़, सुस्थिर उत्सुकता, अभिरुचि नहीं रहती)।

पहले अनुष्ठान में अज्ञानमय अंधकार का आधिक्य रहता है,
इसलिए उससे दोषविगम—मुक्तिपथ में आने वाले विघ्नों और बाधाओं
का नाश नहीं होता। कई आचार्यों का मत है कि वैसा करने वाला
आगामी जन्म में मोक्ष से हटाने वाले कारणों को नष्ट कर देने में
समर्थ हो जाता है।

मुक्ति की अभिलाषा करना भी श्लाघनीय—प्रशंसनीय है। उससे
अज्ञान रूप अंधकार ध्वस्त होता है। किन्तु मोक्ष संपूर्णतः शुद्ध भाव
पर आश्रित है, इसलिए गिरि-पतन आदि प्रथम कोटि में आने वाले
अनुष्ठान मोक्ष के कारण नहीं होते।

दूसरी श्रेणी में आने वाले अनुष्ठान में स्थूल दृष्टि से दोषों का
अपाकरण तो होता है किन्तु वहां एकान्त रूप से दोषों के अपगम का
क्रम सतत गतिशील नहीं रहता। अतः दोष पूर्णरूप में नहीं मिटते।
वह साधक अपने कार्यों में वस्तुतः महत्-लघु, उच्च-अनुच्च, श्रेष्ठ-
अश्रेष्ठ जैसा भेद नहीं कर पाता।

एवंपर्यव्यपेक्षा—उद्दिष्ट विषय का यथार्थ अभिप्राय ध्यान में रखना ।^१

एषणा—सोलह उदगम-दोष, सोलह उत्पादन-दोष तथा दस एषणा-दोष वर्जित आहार-पानी ग्रहण करना ।^२

ऐ

एकाग्र्य-संवित्ति—एकाग्रतापूर्ण चित्तन ।^१

ऐक्यश्रुताविचार—एकत्ववितर्काधिकार । शुक्ल-ध्यान के चार भेदों में दूसरा भेद ।^२

१. अद्वेषादिगुणवतां नित्यं खेदादिदोषपरिहारात् ।

सदुशप्रत्ययसंगतमेकाग्रं चित्तमाप्नोतम् ॥

—अ. सा. ७.२०.७

अद्वेष (किसी के साथ द्वेष भाव, ईर्ष्याभाव न रखना) आदि गुणयुक्त साधकों का चित्त, जो खेद (योगाभ्यास में परिश्रान्ति का अनुभव) आदि दोषों का परिवर्जन कर सदा ध्येयोन्मुख वृत्तियुक्त, तदनुरूप परिणाम युक्त बना रहता है, उसे एकाग्र कहा गया है ।

२. द्विचत्वारिंशता भिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् ।

मुनिर्यदन्नमादत्ते संषणा समितिर्मेता ॥

—यो. शा. १.३८

भिक्षा संबंधी बयालीस दोषों का वर्जन कर मुनि प्रतिदिन जो अदूषित—दोष रहित, शुद्ध आहार-पानी ग्रहण करता है, उसे एषणा-समिति कहा जाता है ।

३. ध्यातान्तरात्मा ध्येयस्तु परमात्मा प्रकीर्तितः ।

ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः समापत्तिस्तदेकता ॥

—ज्ञा. सा. ध्यानाष्टक २

अन्तरात्मा ध्याता, परमात्मा ध्येय तथा एकाग्रतापूर्ण संवित्ति-सद्बोधानुस्यूत चित्तन ध्यान हैं । इन तीनों का ऐक्य समापत्ति—सम्प्रज्ञात समाधि है ।

४. ज्ञेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यश्रुताविचारं च ।

सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदश्चतुर्धा यत् ॥

एवं श्रुतानुसारादेकत्व-वितर्कमेक-पर्यायि ।

अर्थ-व्यंजन-योगान्तरेष्वसंक्रमणमन्यत् ॥

—यो. शा. ११.५-७

ऐश्वर्य—ईश्वरता, असाधारण शक्तिमत्तात्मक वैभव ।^१

ओ

ओष-दृष्टि—ओष का अर्थ संसार-प्रवाह है । जो दृष्टि सांसारिकता से, मात्र ऐहिक जीवन से जुड़ी होती है, वह ओष-दृष्टि है । मेघाच्छन्न रात्रि, मेघशून्य रात्रि, मेघयुक्त दिवस, मेघरहित दिवस, ग्रहग्रस्त दर्शक, ग्रहरहित दर्शक, बाल दर्शक, प्रौढ़ दर्शक आदि के भेद से जैसे किसी वस्तु के दर्शन में वैशद्य, आधिक्य, नैयून्य आदि की दृष्टि से तरतमता, भिन्नता, रहती है, आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है, वैसे ही सामान्य जन की दृष्टि—ओष-दृष्टि, दृष्टिवान् के वैविध्य की अपेक्षा से विविध प्रकार की होती है ।^२

शुक्ल-ध्यान चार प्रकार का है—१. पृथक्त्व-श्रुत-सविचार, २. एकत्व-श्रुत-अविचार, ३. सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति, तथा ४. उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति ।

श्रुत के अनुसार अर्थ, व्यंजन तथा योग के संक्रमण से रहित—अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन से व्यंजनान्तर, योग से योगान्तर—एतन्मूलक चिन्तन-प्रवृत्ति-वर्जित, एक ही पर्याय-विषयक ध्यान एकत्व-श्रुत-अविचार ध्यान कहलाता है ।

१. मुक्तो बुद्धोऽहंन् वापि यदैश्वर्येण समन्वितः ।

तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञामेदोऽत्र केवलम् ॥

—यो. बि. ३०२

जो ऐश्वर्य—ईश्वरता—असामान्य शक्ति-संपन्नतात्मक विभूति से युक्त होता है, वह मुक्त, बुद्ध, अहंन् आदि जिस किसी नाम से पुकारा जाए, ईश्वर है ।

२. समेधामेधाराश्यादौ सग्रहार्भकादिवत् ।

ओषदृष्टिरिह त्रेया मिध्यादृष्टीतराश्रया ॥

—यो. द. स. १४

मेघयुक्त रात्रि, मेघरहित रात्रि, मेघयुक्त दिन, मेघरहित दिन, ग्रहबाधायुक्त दर्शक, ग्रहबाधारहित दर्शक, बालदर्शक, प्रौढ़दर्शक—इन अपेक्षागत भिन्नताओं के कारण जैसे वस्तु के दर्शन में वैशद्य की दृष्टि से तरतमता-न्यूनता-अधिकता रहती है, उसी प्रकार ओष-दृष्टि—संसार के प्रवाह में—अनुस्रोत में पतित दृष्टि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं—स्तरों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है ।

औ

औचित्य—सर्वथा सर्वत्र समुचित आचरण ।^१

औनोदर्य—भूख से कम भोजन करना ।^२

३. एतद्भाव-मले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम् ।

करोत्यव्यक्तचेतन्यो महत्कार्यं न यत् स्वचित् ॥

चरमे पुद्गलावर्ते क्षयश्चास्योपजायते ।

जीवानां लक्षणं तत्र यत् एतदुदाहृतम् ॥

दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।

औचित्यात् सेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥ —यो. दृ. स. ३०-३२

जिन पुरुषों का भाव-मल-अन्तर-मालिन्य अत्यन्त क्षीण (नष्ट) हो जाता है, उनमें योग-बीज का उद्भव होता है । जिनकी चेतना अव्यक्त—सुषुप्त है, जागृत नहीं है, वे योग-बीज प्राप्त करने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकते ।

जब जीव अंतिम पुद्गल-परावर्त की स्थिति में होता है, तब उसका भाव-मल क्षीण होता है । उस स्थिति में विद्यमान जीवों के लक्षण इस प्रकार हैं—

दुःखित प्राणियों के प्रति उनके मन में अत्यन्त दया (करुणा) रहती है । वे गुणी जनों के प्रति द्वेष-भाव—मात्सर्य नहीं रखते । जहाँ जैसा उचित हो, बिना किसी भेद-भाव के वे तदनु रूप व्यवहार करते हैं, सेवा करते हैं ।

१. अनशनऔनोदर्य वृत्तेः संक्षेपणं तथा ।

रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तपः ॥

प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्यं स्वाध्यायो विनयोऽपि च ।

व्युत्सर्गोऽथ शुभं ध्यानं षोढेत्याभ्यन्तरं तपः ॥ —यो. शा. ४.८६-९०

अनशन—आहार-त्याग, औनोदर्य—भूख से कम भोजन, वृत्ति-संक्षेप—आहार संबंधी अनेक त्यागमूलक प्रतिज्ञाएं स्वीकार कर जीवन-वृत्ति का संक्षेपण-संक्षिप्तीकरण (ससीमता), रस-परि-त्याग—मद्य, मांस, शहद, मक्खन, दूध, दही, घी, तेल, गुड़ आदि विशिष्ट रसमय पदार्थों का परिवर्तन, काय-क्लेश—तपोमूलक उप-क्रमों द्वारा देह-दमन, प्रतिसंलीनता—संयम-बाधक स्थान में अप्रवास, मन, वचन एवं काय का अशुभ से संगोपन—ये छः बाह्य तप हैं ।

प्रायश्चित्त, वैयावृत्त्य—सेवा, स्वाध्याय, विनय, व्युत्सर्ग—त्याज्य पदार्थ तथा कषाय-भाव का त्याग एवं ध्यान—ये छः आभ्यन्तर तप हैं ।

क

क—आत्मा, ब्रह्म ।^१

कपित्थ—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में पन्द्रहवां दोष । यूका आदि के भय से वस्त्र को कपित्थ फल की भांति गोलाकार बना कर, उसे जंघाओं के बीच रखकर खड़ा होना ।^२

करणग्राम—इन्द्रिय विषय ।^३

करण-परिणति—इन्द्रियों की परिणति—क्रियाकलाप ।^४

कर्म-क्षय—कर्म-आवरणों का समूल नाश ।^५

कर्मभूमि—मनुष्य-लोक, जहाँ व्यक्ति अपने उद्यम द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थ साधने की क्षमता लिये होता है ।^६

कर्मयोग—स्थान-योग तथा ऊर्ण-योग में क्रियाशीलता की प्रधानता के कारण आचार्य हरिभद्र ने इन्हें कर्मयोग कहा है ।^७

१. यो. मा. २६

२. का. श. १५६०-६१

३. निरुद्धय करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च ।

ललाटदेशसंलीनं विदध्यान्निश्चलं मनः ॥

ज्ञाना. ३०.१२

इन्द्रिय-विषयों का निरोध कर, समत्व-भाव का आलम्बन कर, मन को निश्चल—सुस्थिर बनाकर ललाट में संलीन करना चाहिए । (इससे समाधि सिद्ध होती है ।)

४. यो. मा. ४

५. आणाए चित्तणम्मी तत्तावगमो निओगओ होइ ।

भावगुणागरबहुसाणओ य कम्मबल्लओ परमो ॥

—यो. श. ७४

आज्ञानुरूप—शास्त्रानुसार चिंतन करने से निश्चित रूप में तत्त्व-बोध प्राप्त होता है । गुणीजन का श्रद्धापूर्वक बहुमान—विशेष आदर करने से अत्यंत कर्म-क्षय होता है ।

६. धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।

न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥

यो. वृ. स. ८३

कर्मभूमि में मनुष्य-भव श्रेष्ठ धर्म-बीज है । मंदबुद्धि पुरुष उसे प्राप्त करके भी उत्तम कर्म रूप कृषि (खेती) में प्रयत्नशील नहीं होते (उसका उपयोग नहीं करते) ।

७. यो. वि. २

कर्मवज्रविभेद—वज्र का अर्थ हीरा है। हीरे को तोड़ना बहुत कठिन होता है। वही बात कठोर कर्मों के साथ है। पर, प्रबल साधन—यंत्र, औजार आदि से हीरा टूट जाता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार सूक्ष्म बोध से हीरे जैसे कठोर कर्म टूट जाते हैं, निर्जीण हो जाते हैं। यह सूक्ष्म-बोध-जनित कर्मवज्र-विभेद है।^१

कर्म-विपाक—प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग आदि के भेद से शुभ-अशुभ कर्मों का अनेक रूप में निष्पद्यमान फल।^२

कर्मोद्वेक—कर्मों का फल-भोग।^३

कलेवर—काय।^४

कल्याणसत्त्व—अवश्य कल्याण प्राप्त करने वाले पुण्यशाली पुरुष, जिन्हें बीज रूप में वैयास सुसंस्कार प्राप्त रहता है।^५

१. सम्यक् हेत्वादिभेदेन लोके यस्तत्त्व-निर्णयः।

वेद्य-संवेद्य-पदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ॥

भवाम्भोधिसमुत्तारात् कर्मवज्रविभेदतः।

ज्ञेयव्याप्तेश्च कात्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ॥

यो. दू. स. ६५, ६६

सम्यक् हेतु—प्रमाणानुगत कारण आदि द्वारा जो तत्त्व-निर्णय किया जाता है, वह वेद्य—जानने योग्य, अनुभव करने योग्य तत्त्व के संवेदन—अनुभव का उद्भावक होने के कारण सूक्ष्म बोध कहा जाता है।

सूक्ष्म बोध द्वारा संसार-सागर से उद्धार, कर्मरूप हीरे का भेदन, ज्ञेय-व्याप्ति—अनन्तधर्मात्मक वस्तु-तत्त्व रूप ज्ञेय का समग्रता से—सब अपेक्षाओं से ग्रहण—ज्ञान—यह सब सिद्ध होता है।

२. घ्या. श. ५१

३. यो. मा. २३

४. का. श. १४६०

५. श्रवणे प्रार्थनीया स्युर्नहि योग्याः कदाचन।

यत्नः कल्याणसत्त्वानां महारत्ने स्थितो यतः ॥

—यो. दू. स. २२५

योग्य पुरुषों—कुलयोगियों तथा प्रवृत्तचक्रयोगियों को शास्त्र-श्रवण का अनुरोध करना कदापि समुचित (अपेक्षित) नहीं है। वे कल्याण-सत्त्व हैं—अवश्य कल्याण प्राप्त करने वाले पुण्यशाली पुरुष हैं। उनको संस्कारवश योगाभ्यास रूप महारत्न सहज रूप में प्राप्त होता है, उस ओर वे स्वयं यत्नशील रहते हैं।

कल्याणांगता—श्रेयस् की प्रमुख रूप में व्याप्ति ।^१

कल्याणाशय—आत्मपरिणामों में पवित्रता का भाव ।^२

१. संक्लेशयोगतो भूयः कल्याणांगतया च यत् ।

तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्या तूपचारतः ॥ —यो. वि. १८४

जब साधक की प्रकृति में संक्लेशों—आत्मोन्मुख आचरण में बाधा उपस्थित करने वाले विघ्नों का अयोग—अभाव हो जाता है (विघ्न हट जाते हैं), मुख्यतः कल्याण—श्रेयस् व्याप्त हो जाता है, वह तात्त्विक—यथार्थ (योगानुवर्तिनी) प्रकृति है। ऐसा जानना चाहिए। उससे भिन्न प्रकृति औपचारिक—अतात्त्विक होती है।

२. आसन्ना चेयमस्योच्चैश्चरमावर्तिनो यतः ।

भूयांसोऽपि व्यतिक्रान्तास्तदेकोऽत्र न किञ्चन ॥

अत एव च योगज्ञैरपुनर्बन्धकादयः ।

भावसारा विनिर्दिष्टास्तथापेक्षादिवर्जिताः ॥

भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।

वर्धमानगुणप्रायः अपुनर्बन्धको मतः ॥

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता ॥

कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युपचारतः ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान पुरुष के मुक्ति आसन्न (निकट-स्थित) होती है। वह अपने सांसारिक जीवन में अनेक पुद्गल-परावर्तों को पार कर चुका है। तब अवशेष रहे अन्तिम एक पुद्गल-परावर्त को अतिक्रान्त करना कोई बहुत भारी नहीं है।

इस दायरे में आने वाले अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि एवं चारित्र्यी (चारित्र्याराधक) भावसार—उत्तमभावयुक्त तथा अपेक्षादिवर्जित—फलासक्ति आदि से रहित होते हैं। ऐसा योगवेत्ताओं ने बतलाया है।

भवाभिनन्दी—संसार में रचेपचे (लौकिक सुखों में आसक्त) जीवों में पाये जाने वाले दोषों के प्रतिकूल, गुणों से जो युक्त होता है, योगाभ्यास द्वारा उन गुणों को जो उत्तरोत्तर बढ़ाता जाता है, वह अपुनर्बन्धक माना गया है।

पूर्व सेवा—योग साधना में समर्पित होने से पहले अभ्यसनीय, आचरणीय कार्य, जो यथास्थान वर्णित हुए हैं, आत्म-परिणामों की पवित्रता, उत्तमता के कारण अपुनर्बन्धक जीवों में मुख्य रूप से घटित होते हैं) वे उनका विशेष रूप से अनुसरण करते हैं। अपुनर्बन्धकों के अतिरिक्त दूसरे—पुनर्बन्धक जीव जो पूर्व सेवा के अंतर्गत प्रतिपादित कार्यों का अनुसरण करते हैं, वह औपचारिक मात्र है (क्योंकि वे तत्त्व-निष्ठा रहित हैं)।

कषाय—आत्मगुणों को हीनसत्त्व करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ रूप विजातीय भाव ।^१

कषायमल-विश्लेष—क्रोध-मान-माया-लोभात्मक कषाय रूप मालिन्य का क्षय ।^२

कषाय-विषयावेश—क्रोध आदि कषायों तथा शब्द आदि विषयों का पुनः पुनः अदय-प्रसंग ।^३

कान्ता—योगदृष्टिसमुच्चय में वर्णित आठ योग दृष्टियों में छठी दृष्टि ।

कान्ता का एक अर्थ पतिव्रता स्त्री है । घर के सब कार्य करते हुए भी पतिव्रता स्त्री का मन अपने पति में रहता है, उसी प्रकार इस दृष्टि में पहुँचे हुए योगी का मन कर्तव्यवश लौकिक कार्य करते हुए भी अध्यात्म में तन्मय रहता है ।

कान्त का एक अर्थ प्रिय है । इस दृष्टि में विद्यमान योगी सबको बड़ा प्रिय लगता है । कान्त—प्रिय की अर्थ-संगति एक और प्रकार से भी होती है—यह दृष्टि योगिजनों के लिए प्रिय—प्रीति-कर है ।

इस दृष्टि के नामकरण में स्यात् कुछ इसी प्रकार के हेतु रहे हों ।^४

१. ध्या. श. ५०

२. कषायमलविश्लेषात् प्रशमाद् वा प्रसूयते ।

यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम् ॥

—ज्ञाना. ४२.६

जो ध्यान (क्रोध, मान, माया एवं लोभ रूप) कषाय-मल के क्षय या उपशम से उत्पन्न होता है, तत्त्वज्ञ पुरुषों ने उसकी शाब्दिक व्युत्पत्ति (शुचं ग्लपयति-नाशयतीति शुक्लम्) के अनुरूप उसे शुक्ल ध्यान कहा है ।

३. येषामध्यात्मशास्त्रार्थतत्त्वं परिणतं हृदि ।

कषायविषयावेशश्लेशस्तेषां न कर्हिचित् ॥

—अ. सा. १.१.१४

जिनके हृदय में अध्यात्म-शास्त्र का रहस्य व्याप्त हो गया हो, उनमें कषायों एवं लौकिक भोग्य विषयों का परिताप कभी उत्पन्न नहीं होता ।

४. कान्तायामेतद्व्येषां प्रीतये धारणा परा ।

अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं भीमांसाऽस्ति हितोदया ॥

—यो. दू. स. १६२

कान्ता दृष्टि में पूर्व-वर्णित अविच्छिन्न सम्पद्दर्शन आदि

कान्दर्पी—कामुक या कामेप्सापूर्ण भावना ।^१

कापोत—लेश्या के छः भेदों में तीसरा भेद । इसके पुद्गल कबूतर के गले के सदृश रक्त व कृष्ण, कच्चे आम से अनन्त गुण तित्त माने गये हैं । मानसिक, वाचिक, कायिक व्यापार में वक्रता, छलना, सरलता का अभाव इत्यादि इस लेश्या के परिणाम हैं ।^२

काय-निरोध—देह का नियंत्रण, नियमन ।^३

गुण विद्यमान रहते ही हैं, कान्तादृष्टि प्राप्त योगी के जीवन में एक ऐसी विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि उसके (सम्यक् दर्शन आदि) गुण सबको बड़े कान्त—प्रिय लगने लगते हैं ।

इसमें योग का छठा अंग धारणा सिद्ध हो जाता है । योगी को आत्म-रमण के अतिरिक्त अन्यत्र कोई रस नहीं रहता । वह मीमांसा—तात्त्विक चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन में, सद्विचारणा में निरत रहता है, जिसका फल आत्म-कल्याण है ।

१. कान्दर्पी कैल्वषी चैव भावना चाभियोगिकी ।

दानवी चापि सम्मोही त्याज्या पंचतयी च सा ॥

ज्ञाना. ४.४१

कान्दर्पी—कामुकतायुक्त, कैल्वषी—किल्बिष—अपराध या क्लेषयुक्त, आभियोगिकी—युद्धोन्मादयुक्त, दानवी—आसुरभाव या निर्दयतायुक्त, समोहिनी—तीव्र मोहयुक्त—ये पांच भावनाएं त्यागने योग्य हैं ।

२. ध्या. श. १४

३. ठाणा कायनिरोहो तक्कारीसु बहुमाणभावो य ।

वंसा य अगणणम्मि वि वीरिय जोगो य इट्ठफलो ॥

यो. श. ६४

स्थान—आसन से काय-निरोध (काय-विजय) होता है । काय-निरोध सिद्ध करने वाले—इन्द्रिय-विजेता योगीजनों के प्रति लोगों में बहुमान—विशेष आदर-भाव उत्पन्न होता है । काय-विजेता योगी जीव-जन्तुओं द्वारा लगाये गये डंक आदि को कुछ नहीं गिनते (उनकी जरा भी परवाह नहीं करते) । उनमें इष्ट-फलप्रद वीर्य-योग—योग-पराक्रम समुदित होता है ।

काय-पातन—मात्र दैहिक दृष्टि से कर्म-संलग्नता ।^१

काय-योग—दैहिक प्रवृत्ति ।^२

कायवासितप्राय—स्थान, ऊर्ण, अर्थ तथा आलम्बन-योग रहित पुरुष का चैत्य-वन्दन प्रभृति क्रिया-कलाप । वह दैहिक चेष्टा मात्र है, आत्मार्थ का साधक नहीं है । आचार्य हरिभद्र ने उसे महामृषावाद कहा है ।^३

कायोत्सर्ग—काय या शरीर का उत्सर्ग—त्याग अर्थात् देह के प्रति प्रतिक्षण में रहे लगाव एवं ममत्व से मुंह मोड़कर आत्मभाव में संस्थित रहने का प्रयास करना, देह को शिथिल करना, तनावमुक्त होना कायोत्सर्ग है ।^४

कायोत्सर्गसन—दैहिक ममत्व एवं आसक्ति का परित्याग कर, दोनों हाथों को नीचे लटकाकर शरीर तथा मन से स्थिर होना कायोत्सर्गसन है ।^५

कर्मण—औषध एवं मंत्र-तंत्र के योग द्वारा वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन, मारण आदि हेतु तैयार किया गया प्रयोग-विशेष । कामण ।^६

१. तह कायपायणो न पुण चित्तमहिगिच्च बोहिसत्तति ।

होति तह भावणाओ आसयजोगेण सुद्धाओ ॥

—यो. श. ८८

बौद्ध वाङ्मय में बोधिसत्त्व के संबंध में बतलाया गया है कि वे कायपाती होते हैं—मात्र देह से कर्म करते हैं, चित्तपाती नहीं होते—उनका चित्त कर्मासक्त नहीं होता । क्योंकि अभिप्राय की युक्तता (उत्तमता) के कारण उनकी भावनाएं शुद्ध होती हैं ।

२. ध्या. श. ७६

३. यो. वि. १२

४. यो. वि. १०

५. प्रलम्बित-भुज-द्वंद्वमूर्ध्वस्थस्यासितस्य वा ।

स्थानं कायानपेक्षं यत् कायोत्सर्गः स कीर्तितः ॥

—यो. शा. ४.१३३

कायिक ममत्व का परित्यागकर, दोनों भुजाएं लम्बी लटकाकर देह और मन से स्थिर होना कायोत्सर्गसन है ।

६. योगःसर्वविपदल्ली-विताने परशुःशितः ।

अमूलमन्त्रतन्त्रं च कर्मणं निर्वृतिश्रियः ॥

—यो. शा. १.५

योग समस्त विपत्ति रूपी लताओं के वितान को उच्छिन्न करने में तीक्ष्ण धारयुक्त परशु के सदृश है । मुक्तिरूपी लक्ष्मी को अधिगत करने के लिए वह मंत्र-तंत्र रहित कामण के तुल्य है ।

कायसंतति—उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ काय-प्रवाह—जन्म-मरण की धारा ।^१
कालचक्र—मृत्यु-काल जानने की एक विशेष प्रक्रिया ।^१

१. आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं काय-संततेः ।

स्वस्मिन् स्वमिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतम् ॥

—ज्ञाना. ३२.८०

शरीर में आत्मत्व का स्वीकार—शरीर को आत्मा समझना काय-संतति—भव-परम्परा (जन्म-मरण की शृंखला) का हेतु है । आत्मा को आत्मा समझना विद्यमान शरीर से अन्य शरीर में जाने के अभाव का—भव-परंपरा के मिटने का हेतु है ।

२. प्रतिपद्विसे काल-चक्र-ज्ञानाय शौचवान् ।

आत्मनो दक्षिणं पाणिं शुक्लं पक्षं प्रकल्पयेत् ॥

अधोमध्योर्ध्व-पर्वाणि कनिष्ठिकांगुलिकानि च ।

क्रमेण प्रतिपत् षष्ठ्येकादशीः कल्पयेत्तिथीः ॥

अवशेषांगुली-पर्वाण्यवशेष-तिथीस्तथा ।

पंचमी-दशमी-राकाः पर्वाण्यंगुष्ठगानि च ॥

वामपाणिं कृष्णपक्षं तिथीस्तद्वच्च कल्पयेत् ।

ततश्च निर्जने देशे बद्ध-पद्मासनः सुधीः ॥

प्रसन्नः सितसंभ्यातः कोशीकृत्य कर-द्वयम् ।

ततस्तदन्तः शून्यं तु कृष्णं वर्णं विचिन्तयेत् ॥

उद्घाटित-कराभोजस्ततो यत्रांगुली-तिथी ।

वीक्ष्यते काल-बिन्दुः स काल इत्यत्र कीर्त्यते ॥

—यो. शा. ५, १२६-३४

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन पवित्र होकर काल-चक्र को जानने हेतु अपने दाहिने हाथ को शुक्ल पक्ष के रूप में परिकल्पित करे ।

अपनी कनिष्ठिका (सबसे छोटी) अंगुली के निम्न, मध्य तथा ऊर्ध्व पर्व में (नीचे के, बीच के और ऊपर के पंखों में) क्रमशः प्रतिपदा (एकम), षष्ठी (छठ) तथा एकादशी (ग्यारस) की कल्पना करे ।

अंगूठे के निम्न, मध्य और ऊर्ध्व पर्व में पंचमी (पांचम), दशमी (दसम) एवं पूर्णिमा (पूनीम) की कल्पना करे । अवशेष अंगुलियों के पर्वों में बाकी की तिथियों की कल्पना करे । अनामिका अंगुली के तीन पर्वों में क्रमशः दूज, तीज तथा चौथ, मध्यमा अंगुली के तीन पर्वों में क्रमशः सातम, आठम और नौमी एवं तर्जनी अंगुली के तीन पर्वों में बारस, तेरस और चवदस की कल्पना करे ।

कालातीत—योग के एक अज्ञात-परिचय आचार्य, जिनका संभवतः केवल योगबिन्दु में नाम-संकेत प्राप्त है ।^१

कालादियोग—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अपेक्षाएं ।^२

कालादिवाद—काल, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थवाद ।^३

कालान्तरनिपातन—कालान्तर में, भवान्तर में आत्मा के दुःख एवं अधःपतन का कारण ।^४

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन बायें हाथ में कृष्ण पक्ष की कल्पना करे तथा पांचों अंगुलियों में शुक्ल पक्ष के रूप में परिकल्पित दाहिने हाथ की तरह तिथियों की कल्पना करे ।

तदनन्तर—निर्जन—एकांत स्थान में जाकर, पद्मासन में संस्थित होकर, प्रसन्न मन से उज्ज्वल (निर्मल) ध्यान कर दोनों हाथों को कमल की पंखुड़ी के आकार में जोड़ ले एवं हाथ में एक कृष्ण वर्ण के बिंदु का चिंतन करे ।

उसके बाद हाथ खोलने पर जिस अंगुली पर परिकल्पित कृष्ण-पक्षीय या शुक्लपक्षीय तिथि में कृष्ण बिंदु दृष्टिगोचर हो, उसी कृष्णपक्षीय या शुक्लपक्षीय तिथि के दिन मरण होगा, ऐसा बतलाया जाता है ।

१. माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदंपर्यव्यपेक्षया ।

तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥

—यो. बि. ३००

माध्यस्थ्यभाव—तटस्थ-वृत्ति का अवलम्बन करते हुए, उद्दिष्ट विषय का मर्म ध्यान में रखते हुए तत्त्व-निरूपण करना चाहिए । आचार्य कालातीत ने भी ऐसा ही कहा है ।

२. यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।

ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलं षाऽपि तत्त्वतः ॥ —यो. वृ. स. १३८

द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नय तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की अपेक्षा से तत्त्व-द्रष्टाओं ने भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्मदेशना दी है, पर वास्तव में उन सबके मूल में सर्वज्ञ-देशना ही है ।

३. यो. बि. ८१

४. दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः ।

एतद् विहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनम् ॥

यो. बि. १५७

जिस अनुष्ठान के साथ दिव्य (देव-संबन्धी) भोगों की आकांक्षा जुड़ी रहती है, उसे तत्त्व-द्रष्टा "गर" (धीरे-धीरे मारने वाला जहर) कहते हैं । भोग-वासना के कारण वह कालान्तर में आत्मा के अधःपतन का कारण होता है ।

काहलत्व—बोलते समय जिह्वा के लड़खड़ाते रहने के कारण स्पष्ट उच्चारण कर पाने का सामर्थ्य न होना ।^१

कुगति-विपाक—दुर्गति-फलप्रदता ।^२

कुचितिकाग्रह—पक्षपातपूर्ण विचार ।^३

कुड्य—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में चौथा दोष । स्तंभ या भित्ति का सहारा लेकर खड़ा होना ।^४

१. मन्मनत्वं काहलत्वं मूकत्वं मुखरोगिताम् ।

वीक्ष्यासत्यफलं कन्यालीकाद्यसत्यमुत्सृजेत् ॥

—यो. शा. २.५३

मन्मनत्व—मन ही मन में बोलना—दूसरे समझ सकें, ऐसा न बोल पाना, **काहलत्व**—बोलते समय जिह्वा के लड़खड़ाते रहने के कारण स्पष्ट न बोल सकना, **मूकत्व**—वाणी का उच्चारण ही न कर पाना, मुख में अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होना—ये असत्य बोलने के फल हैं । इन्हें देखकर श्रमणोपासक को कन्यालीक (कन्या के संबंध में असत्य-भाषण) आदि सभी प्रकार के असत्य-भाषण का परित्याग कर देना चाहिए ।

२. अत्ये रागस्मि उ अज्जणाइ दुक्खसयसंकुलं तत्तं ।

गमणपरिणामजुत्तं कुगइविवागं च चित्तेज्जा ॥

—यो. श. ६९

यदि धन के प्रति आसक्ति हो, तो इस प्रकार चिंतन करना चाहिए—धन के अर्जन, परिरक्षण आदि में सैकड़ों दुःख हैं । वह गमन-परिणामयुक्त है—चला जाता है (सदा नहीं रहता) । उसका फल कुत्सित गति है ।

३. साधु चैतद् यतो नीत्या शास्त्रमत्र प्रवर्तकम् ।

तथाऽभिधानभेदात्तु भेदः कुचितिकाग्रहः ॥

—यो. बि. ३०८

(आचार्य कालातीत ने माध्यस्थ्य-भाव अपनाने की जो बात कही है, वह समीचीन है) । तात्त्विक विषयों में शास्त्र ही प्रवर्तक-मार्गदर्शक है । उनमें विद्यमान नाम-भेद को वास्तव में भेद मानना पक्षपातपूर्ण विचार है, अनुचित आग्रह है ।

४. का. श. १५६०-६१

कुदृष्टि—कुत्सित दृष्टि, मिथ्यात्व या विपरीत तत्त्व-श्रद्धायुक्त दृष्टि ।^१

कुम्भक—बाहर से वायु खींचकर उसे नाभि-कमल में स्थिर करना, रोक लेना, कुम्भक प्राणायाम है ।^२

कुलयोगी—जन्म से ही जिन्हें योग प्राप्त होता है, जो स्वभावतः योग-मार्ग की ओर आकृष्ट होते हैं, उन्हें कुलयोगी कहा गया है । इस संदर्भ में तथ्य यह है—जो योगी साधना करते हुए बीच में ही अपना आयुष्य पूरा कर देते हैं, साधना सम्पूर्ण नहीं कर पाते, वे आगे जन्म-जात योगी के रूप में उत्पन्न होते हैं । पूर्व संस्कारवश वे आत्मप्रेरित होते हैं, स्वयं साधना में लग जाते हैं । यहां यह ज्ञातव्य है कुल शब्द अनुवंशिकता से सम्बद्ध नहीं है । वस्तुतः योगियों का कोई कुल, वंश, जन्म-जाति-गत परिवार नहीं होता । यह शब्द योग-साधनानिष्ठ उत्तम पुरुषों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो जाति, व्यक्ति तथा संप्रदाय आदि बाह्य भेदों से अतीत है ।^३

१. कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायशःश्वचित् ।

निदिचितं सारवच्चैव किन्तु सर्वार्थकृत् सदा ॥

—यो. दृ. स. १४२

सत्पुरुष कुदृष्टि—मिथ्यादृष्टि, कुत्सित दृष्टियुक्त लोगों की तरह कहीं असद् वचन नहीं बोलते । वे संशयरहित, सारयुक्त तथा सबके लिए हितप्रद वचन बोलते हैं ।

२. समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः ।

नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥

यो. शा. ५.७

बाहर से वायु को आकृष्ट कर उसे नीचे अपान-पर्यन्त कोष्ठ में भर लेना पूरक प्राणायाम है । वायु को नाभि-कमल में स्थिर कर रोकना कुम्भक प्राणायाम है ।

३. ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।

कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥

—यो. दृ. स. २१०

जो योगियों के कुल में उत्पन्न हुए हैं—जिन्हें जन्म से ही पूर्व संस्कारवश योग प्राप्त है, जो सहजरूप में योग-साधना में प्रवृत्त हैं, वे कुलयोगी कहे जाते हैं ।

आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारत-भूमि में उत्पन्न भूमि-भव्य गोत्रयोगी कहे जाते हैं ।

- कुलाचारधी**—वंश-परम्परा से प्राप्त आचार-पद्धति के परिपालन की बुद्धि ।^१
कुलादियोगभेद—गोत्रयोग, कुलयोग, प्रवृत्तचक्रयोग तथा निष्पन्न योग ।^२
कुशल—शुभ-भाव-मय । अर्हत्तों के प्रति कुशलचित्त—उनके प्रति चित्त में पूज्य तथा प्रशस्त भाव, आचार्य हरिभद्र द्वारा उत्तम योगबीज के रूप में आख्यान हुआ है ।^३
कुशल-प्रवृत्ति—पुण्यात्मक शुभ-कर्म ।^४

१. हिंसा विघ्नाय जायेत विघ्नशान्त्यै कृताऽपि हि ।

कुलाचारधियाऽप्येषा कृता कुलविनाशिनी ॥

—यो. शा. २.२६

विघ्न-शांति के लिए की गई हिंसा भी विघ्न ही पैदा करती है । कुल के आचार का पालन करने की बुद्धि से की गई हिंसा भी कुल का विनाश कर देती है ।

२. कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो यतः ।

अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते ॥

—यो. दृ. स. २०८

कुलयोग, गोत्रयोग, प्रवृत्तचक्रयोग तथा निष्पन्नयोग—इन योग-भेदों की अपेक्षा से कुलयोगी, गोत्रयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी तथा निष्पन्न-योगी के रूप में चार प्रकार के योगी होते हैं । (प्रस्तुत ग्रंथ के सृजन का मुख्य प्रयोजन आत्माभ्युदय, आत्मोपकार ही है पर) उनमें से कोई भी इस ग्रंथ से उपकृत हों तो बाधा की बात नहीं है ।

३. जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च ।

प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम् ॥

—यो. दृ. स. २३

अर्हत्तों के प्रति विनयादि शुभ भाव युक्त चित्तवृत्ति, उन्हें नमस्करण, मानसिक, वाचिक, कायिक शुद्धि पूर्वक प्रणमन इत्यादि भक्तिभावमय उत्तम प्रवृत्तियाँ परमोत्कृष्ट योगबीज हैं ।

४. तल्लक्षणं जोगो ओ चित्तवित्ती निरोहओ चेव ।

तह कुसल पविस्ती ए मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ॥

—यो. श. २२

चित्तवृत्तियों का निरोध, कुशल प्रवृत्ति, मोक्ष से योजन (जोड़ना) इत्यादि योग-लक्षण अपने अपने अभिप्राय के अनुरूप संगत हैं ।

कुशलाशयभाव—पुण्यात्मक परिणाम ।^१

१. एकान्तफलदं ज्ञेयमतो धर्म-प्रवर्तनम् ।

अत्यन्तभावसारत्वात् तत्रैवाप्रतिबन्धतः ॥

तद्भंगादिभयोपेतः तत्सिद्धौ चोत्सुको दृढम् ।

यो धीमानिति सन्न्यायात् स यदौचित्यमीक्षते ॥

आत्मसंप्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्धकर्मणि ।

पाप-कर्मोदयादत्र भयं तदुपशान्तये ॥

विस्त्रोतो गमने न्याय्यं भयादौ शरणादिवत् ॥

गुर्वाद्याश्रयणं सम्यक् ततः स्याद् दुरित-क्षयः ।

सर्वमेवेदमध्यात्मं कुशलाशयभावतः ।

औचित्यं यत्र नियमाल्लक्षणं यत् पुरोदितम् ॥

—यो. वि. ३६२-६६

(अपनी योग्यतानुरूप) धर्म में प्रवृत्त होना निश्चित रूप से सफलप्रद है । धर्म-प्रवृत्त साधक का मन उच्च भावों से अनुप्राणित रहता है । उसकी सत्प्रवृत्ति में प्रतिबंध—विघ्न उपस्थित नहीं होती ।

जो अपनी कार्य-सिद्धि में विघ्न-भय की आशंका से जागरूक रहता है, सफलता का सुदृढ़ उत्साह लिये रहता है, जो बुद्धिशील है, वह न्यायपूर्वक—युक्तिपूर्वक कार्य के—अपनी योग्यता के औचित्य को आंक लेता है ।

पूर्वकाल में किये गये अशुभ कर्मों के उदय से मन में यह भय उत्पन्न होता है कि मेरे द्वारा प्रारम्भ किये गये धर्म-साधनों के कार्य में कहीं कोई विघ्न न आ जाए । इस आशंकित भय को मिटाने के लिए साधक आत्म-संप्रेक्षण करे—भलीभांति आत्मपर्यालोचन करे ।

यदि साधक को ऐसा प्रतीत हो कि वह योग-साधना के प्रति-कूल प्रवाह में बह रहा है तो जिस प्रकार भय उत्पन्न होने पर व्यक्ति उचित शरण ले लेता है, किसी सुरक्षित स्थान पर चला जाता है, उसी प्रकार उसे अपने गुरुजन आदि सत्पुरुषों का आश्रय लेना चाहिए । उससे आशंकित खतरा टल जाता है ।

उपर्युक्त लक्षण, जहां उचित रूप में, निश्चित रूप में घटित होते हैं, वह सब पुण्यात्मक भावों के वैशिष्ट्य के कारण “अध्यात्म” है ।

कुशास्त्र—मिथ्यात्व-प्रसूत कुत्सित शास्त्र ।^१

कुसुख—कुत्सित सुख, जिसका फल—विपाक नितान्त दुःखमय है ।^२

कूड—प्रवंचना या छलनापूर्ण ।^३

कूर्म-नाड़ी—योगसम्मत एक विशेष नाड़ी ।^४

कृच्छ्र—तप का एक भेद ।^५

१. अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञतिः कुशास्त्रैः किं प्रयोजनम् ।

यैर्मनः क्षिप्यते क्षिप्रं दुरन्ते मोहसागरे ॥

—ज्ञाना. १.२८

उन शास्त्रों के अध्ययन, श्रवण तथा ज्ञान से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है (क्या लाभ है), जिनसे पढ़ने, सुनने और जानने वालों का चित्त मोह-सागर में पड़ जाता है, जिसका अन्त—परिणाम दुःखप्रद है ?

२. बडिशामिषवत्तुच्छे कुसुखे दारुणोदये ।

सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां धिगहो दारुणं तमः ॥

—यो. दृ. स. ८४

मछुओं द्वारा मछलियों को आकृष्ट करने हेतु लोहे के कांटे में फंसाए गये मांस पर लोलुप बन मछलियां अपने गले में वह तीक्ष्ण कांटा फंसा लेती हैं । उसी प्रकार परिणाम में भीषण दुःखमय, तुच्छ-निःसार भौतिक सुख में जो पुरुष आसक्त होते हैं, वे उत्तम धार्मिक प्रवृत्तियों का परित्याग कर देते हैं । उन्हें धिक्कार है । कितने दारुण—भयावह अज्ञानान्धकार में वे डूबे हुए हैं !

३. का. श. १५५७

४. नाभौ ज्वरादिघाताय जठरे काय-शुद्धये ।

ज्ञानाय हृदये कूर्म-नाड्यां रोगजराच्छिदे ॥

—यो. शा. ५.३३

नाभि में वायु को धारण करने से (टिकाने से) ज्वर-घात होता है—बुखार दूर होता है, जठर में—उदर में धारण करने से मलशुद्धि-पूर्वक काय-शुद्धि होती है, हृदय में धारण करने से ज्ञानाभिवृद्धि होती है, तथा कूर्म-नाड़ी में धारण करने से व्याधि और जरा का नाश होता है (वृद्धावस्था में भी युवोचित स्फूर्ति बनी रहती है) ।

५. तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पापतापनम् ।

तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम् ॥

—यो. बि. १.३१

तप से पाप तप्त—नष्ट होते हैं । साधक को यथाशक्ति तप का आचरण करना चाहिए । वह चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न, पाप-सूदन आदि अनेक प्रकार का है ।

कृतधी—शुद्ध बुद्धि सम्पन्न ।^१

कृत्य-हानि—अकार्यकारिता—जहां जैसा करना उचित हो, वैसा न करना ।^२

कृत्स्न-कर्मक्षय—समग्र कर्मों का समूल नाश ।^३

कृष्ण—लेश्या के छः भेदों में प्रथम भेद । इसके पुद्गल काजल के समान काले तथा नीम से अनन्तगुण कटु माने गये हैं । हिंसा, असत्य, चोरी, अन्नह्यचर्य तथा परिग्रह में प्रवृत्ति, पांचों आस्रव-द्वारों का सेवन, क्रूर, अशुभ आचरण इत्यादि इस लेश्या के परिणाम हैं ।^४

केवलज्ञप्ति-विग्रह—केवलज्ञान-रूप शरीरमय ।^५

केवलज्ञान—सर्वज्ञता ।^६

१. यो. मा. ६

२. भयं नातीव भवजं कृत्यहानिनं चोचिते ।

तथानाभोगतोऽप्युरुच्यं चाप्यनुचितक्रिया ॥

—यो. दृ. स. ४५

तारा दृष्टि में विद्यमान साधक जन्म-मरण रूप संसार-चक्र के भय से अत्यन्त अभिभूत नहीं होता, करने योग्य कार्यों से वह हटा नहीं रहता (जहां जैसा करना है, वह करता रहता है) । अज्ञात रूप में भी उससे कोई बड़ा अनुचित कर्म नहीं होता ।

३. धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यतः ।

कृत्स्न-कर्म-क्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम् ॥

—ज्ञाना. ४१.२७

आत्म-पराक्रम द्वारा योगी धर्म-ध्यान एवं शुक्ल-ध्यान स्वीकृत कर, सिद्ध कर, समस्त कर्मों का क्षय—निर्मूल नाश कर अव्यय—अविनश्वर, शाश्वत मोक्ष-पद प्राप्त करते हैं ।

४. ध्या. श. १४

५. गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्येनाऽविशेषयन् ।

आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्ति-विग्रहम् ॥

—स. श. ७०

मैं गौर-वर्ण हूं, मोटा हूं, दुबला हूं—आत्मा को इन दैहिक विशेषताओं से न जोड़ते हुए केवल-ज्ञान-स्वरूप समझना चाहिए ।

६. मतियुक्तं श्रुतं सत्यं समनः पर्ययोऽवधिः ।

केवलं चेति सत्यार्थं सद्बुष्टेर्ज्ञानपंचकम् ॥

—ध्या. स्त. ४४

सम्यक्दृष्टि का ज्ञान पांच प्रकार का होता है—१. मति-ज्ञान, २. श्रुत-ज्ञान, ३. मनःपर्यय-ज्ञान, ४. अवधि-ज्ञान तथा ५. केवल-ज्ञान ।

कैलिवषी—क्लेशगर्भित-भावना ।^१

कोल—कौलिक मतावलम्बी जनों द्वारा स्वीकृत आप्त-पुरुष ।^२

कोष्ठिका—नारकीय बिल-संपुट—उत्पत्ति-स्थान ।^३

कोशपान—शब्दकोश पी जाना, तज्ज्ञापित अर्थ को ही अन्तिम मानना ।
आचार्य हरिभद्र के अनुसार शब्द-सूचित ज्ञान तभी उपादेय या कार्य-
कारी होता है, जब युक्तिपूर्वक—संगति समझते हुए उसका उपयोग
किया जाए ।^४

१. ज्ञाना. ४.४ ?

२. जिनेन्द्रो जल्प्यते जैनैः बुद्धः कृत्वा च सौगतैः ।

कौलिकैः कोल आख्यातः स एवायं सनातनः ॥

—यो. प्र. ३४

शाश्वत स्वरूप में अवस्थित आप्त पुरुषों जैनों द्वारा जिनेन्द्र,
बौद्धों द्वारा बुद्ध तथा कौलिकों—मूलाधार चक्र के उपासक कौल-
मार्गानुयायी तांत्रिकों द्वारा कोल के नाम से आख्यात हुआ है ।

३. असि-पत्र-वनाकीर्णं शस्त्रशूलासिस्कंले ।

नरकेऽत्यन्तदुर्गन्धे वसा-सृक्-कृमि-कर्वमे ॥

शिवा-व्याघ्र-कंकाद्वये मांसाशिविहगान्विते ।

वज्र-कंटक-संकीर्णं शूल-शाल्मलि-दुर्गमे ॥

संभूय कोष्ठिकामध्ये ऊर्ध्व-पादा अधोमुखाः ।

ततःपतन्ति साक्रन्दं वज्र-ज्वलन-भूतले ॥

—ज्ञाना. ३६.१६-१८

तलवार सदृश तीक्ष्णपत्र-युक्त वृक्षों से परिव्याप्त, बछिया,
भाले, नेजे, त्रिशूल आदि पौने, नोकदार हथियारों और तलवारों से
संकुल (आपूर्ण), घोर दुर्गन्धयुक्त, मज्जा, रक्त तथा कीड़ों से भरे
कीचड़ से परिपूर्ण, गीदड़, कुत्ते, बाघ तथा बगुले आदि मांसभक्षी
पक्षियों से भयावह, वज्र तुल्य भीषण, कष्टप्रद कांटों से आकीर्ण,
शूल सदृश तीक्ष्ण शाल्मलि (सेमल) वृक्षों की बहुलता से दुर्गम,
नरक में कोष्ठिकाओं—नारकीय बिल रूप उत्पत्ति-स्थानों में प्रादुर्भूत
नारक जीव, जिनके पैर ऊपर तथा सिर नीचे होते हैं, जो आँधे
लटकते हैं, वहाँ से विद्युत् की ज्यों अतितीव्र, ज्वलनयुक्त अग्नि से
आच्छन्न पृथ्वी पर बुरी तरह चीखते-चिल्लाते गिरते हैं ।

४. कोशपानादृते ज्ञानोपायो नास्त्यत्र युक्तितः ।

विप्रकृष्टोऽयस्कान्तः स्वार्थकृद् वृश्यते यतः ॥

—यो. वृ. स. ६४

कोश को पीए बिना—हृदयंगम किये बिना (केवल सामान्य

कौशल—बुद्धिमत्तापूर्ण धर्मोन्नायक प्रवृत्ति ।^१

क्रम—व्यवस्थित, सुनियमित विधि ।^२

क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ।^३

क्षपक—कर्म-क्षय-प्रवण ।^४

तया अवलोकन मात्र से) शब्द-ज्ञान नहीं होता, यह युक्ति सिद्ध है। उदाहरणार्थ चुम्बक लोहे को खींचता है, यह सही है; पर साथ ही साथ ऐसा कहने वाले, मानने वाले को यह बोध भी होना चाहिए कि वह विप्रकष्ट—लोहे से कुछ दूर होने पर ही उसे खींचता है, बिलकुल सटा हुआ होने से नहीं।

१. स्थैर्य प्रभावना भक्तिः कौशलं जिनशासने ।

तीर्थ-सेवा च पंचास्य भूषणानि प्रचक्षते ॥ —यो. शा. २.१६

सम्यक्त्व के पांच भूषण (भूषित, शोभित करने वाले अलंकरण) कहे जाते हैं—

१. स्थैर्य—जिन-शासन में स्थिरता, स्थिर बने रहना ।

२. प्रभावना—जिन-शासन की प्रतिष्ठा, गरिमा बढ़ाना ।

३. भक्ति—जिन-शासन में श्रद्धापूर्वक समर्पण ।

४. कौशल—जिन-शासन में कुशलता, निपुणता ।

५. तीर्थ-सेवा—साधु-साध्वी—श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म-संघ की सेवा ।

२. ध्या. श. २८

३. (क) अविद्या क्लेशकर्मादि यतश्च भवकारणम् ।

ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥ —यो. बि. ३०५

(ख) अविद्याऽस्मिता, रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।

—पा. यो. सू. २.३

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि को संसार का—जन्म-मरण रूप आवागमन का कारण बतलाया गया है। वह तत्त्वतः प्रकृति ही है। केवल संज्ञा-भेद है (नामों की भिन्नता है) ।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—ये पांच क्लेश कहे जाते हैं ।

४. असंख्येयमसंख्येयं सद्वृष्ट्यादिगुणेऽपि च ।

क्षीयते क्षपकस्यैव कर्मजातमनुक्रमात् ॥ —ज्ञाना. ४१.१२

धर्म-ध्यान में संलग्न क्षपक—कर्म-क्षय पूर्वक आगे बढ़ते साधक के सद्वृष्टि—सम्यक्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान से अप्रमत्त—संयत नामक सातवें गुणस्थान तक उत्तरोत्तर अनुक्रम से असंख्यात-असंख्यात गुणे कर्म-समूह क्षीण होते जाते हैं ।

क्षयोपशमयोग—कर्मों के क्षय—समूल नाश तथा उपशम—बाहरी विलय की तरतमता । उसके आधार पर आचार्य हरिभद्र के अनुसार इच्छा-योग, प्रवृत्ति-योग, स्थिरता-योग एवं सिद्धि-योग के अनेक—असंख्य भेद होते हैं ।^१

क्षान्ति—क्रोध-त्याग के परिणाम-स्वरूप प्रस्फुटित होने वाला क्षमाशीलता रूप गुण ।^२

क्षायिक—कार्मिक आवरण के क्षय—समूल नाश से उत्पन्न भाव ।^३

क्षिति-बीज—नासिका-विवर में परिकल्पित पृथ्वी-मंडल, अप्-मंडल, तेजो-मंडल तथा वायु-मंडल के अन्तर्गत पृथ्वी-मंडल से सम्बद्ध विशिष्ट पृथ्वी-बीजाक्षर ।^४

‘अ’ अक्षर पृथ्वी-बीज माना गया है । कतिपय आचार्यों ने ‘ल’ को पृथ्वी-बीज माना है । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार ‘क्ष’ पृथ्वी-बीज है ।

१. एए य चित्तरूपा तहा खओवसमजोगओ हुंति ।

तस्स उ सद्धापीयाइ जोगओ भवसत्ताणं ॥

यो. वि. ६

श्रद्धा—आस्था, प्रीति—अभिरुचि आदि से प्रसूत इच्छा-योग, प्रवृत्ति-योग, स्थिरता-योग एवं सिद्धि-योग, जो स्वरूपतः परस्पर भिन्न हैं, भव्य सत्त्वों (मोक्षयोग प्राणियों) के क्षयोपशम की तरतमता के आधार पर अनेक प्रकार के होते हैं ।

२. ध्या. श. ६९

३. क्षयात् क्षायिकमाप्नातं त्वया देव ! सुनिर्मलम् ।

एतस्योपशमादौपशमिकं दर्शनं मतम् ॥

—ध्या. स्त, ८६

देव ! आपने क्षय-निष्पन्न निर्मल दर्शन को क्षायिक बतलाया है । उपशम-निष्पन्न दर्शन औपशमिक माना गया है ।

४. यः प्राणायाममध्यास्ते स मंडल-चतुष्टयम् ।

निश्चिन्तोतु यतः साध्वी ध्यान-सिद्धिः प्रजायते ॥

घोणाविधरमध्यास्य स्थितं पुर-चतुष्टयम् ।

पृथक्-पवन-संवीतं लक्ष्य-लक्षण-भेदतः ॥

अचिन्त्यमतिदुर्लभं तन्मण्डल-चतुष्टयम् ।

स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाम्यासात् कथंचन ॥

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् ।

महत्पुंरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्नि-मण्डलम् ॥

क्षीण-दोष—क्षीण मोह संज्ञक बारहवां गुणस्थान, जहां मोहनीय कर्म का समूल नाश हो जाता है ।^१

क्षीणोत्लाघ—क्रिया-कलाप के परिस्पन्द या संस्फुरणा का नाश ।^२

क्षिति-बीज-समाक्रान्तं द्रुत-हेम-सम-प्रभम् ।

स्याद् वज्र-लाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम् ॥

—ज्ञाना. २६.१५-१६

जो योगी प्राणायाम पर अधिकार कर ले, उसे चाहिए, वह मंडलों का निश्चय करे—उन्हें समझे, आत्मसात् करे । इससे उत्तम ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है ।

नासिका-विवर (नासिका छिद्र) में (पृथ्वी-मंडल, अप्-मंडल, तेजो-मंडल तथा वायु-मंडल) चार मण्डल रूप नगर विद्यमान हैं । वे लक्ष्य तथा लक्षण की भिन्नता के कारण पृथक्-पृथक्—भिन्न-भिन्न वायु द्वारा वेष्टित हैं ।

वे (चार मंडल) अचिन्त्य हैं—इतने सूक्ष्म हैं कि चिन्तन में नहीं आ पाते । इन्हें लक्षित कर पाना बहुत कठिन है । प्राणायाम के प्रचुर अभ्यास द्वारा वे किसी तरह अनुभवगम्य होते हैं ।

उन चारों में पहला पृथ्वी-मंडल, दूसरा वरुण-मंडल, तीसरा पवन-मंडल और अन्ततः चौथा विशाल अग्नि-मंडल है ।

क्षिति-बीजाक्षरयुक्त, गलाये हुए सोने की तरह पीत-रक्त-पीली-लाल द्युति सहित, वज्रचिह्नयुक्त, चतुष्कोण—चौकोर धरापुर-पृथ्वी-मंडल है ।

१. छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे तु शुक्ले प्रकीर्तिते ।

द्वे त्वन्ये क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥

—ज्ञाना. ४२.७

शुक्ल-ध्यान के जो चार—पृथक्-व-वितर्क-सविचार, एकत्व-वितर्क-अविचार, सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति एवं समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति-भेद हैं, उनमें प्रथम दो छद्मस्थ योगी—बारहवें क्षीण-मोह गुणस्थान-वर्ती साधकों के सिद्ध होते हैं तथा अन्तिम दो उन साधकों के होते हैं, जिनके रागादि दोष सर्वथा क्षीण हो गये हों, जिनके केवल-ज्ञान रूपी नेत्र उद्घाटित हो गये हों ।]

क्षुद्रयोगी—योग के नाम पर असद्-ध्यान में संलग्न ।

क्षेत्रनाथ—आत्मा ।^१

क्षेत्र-रोग—स्थान-विशेष में उत्पन्न रोग ।^२

क्षेत्रवित्—सांख्य-दर्शन में आत्मा की अभिधा । क्षेत्रज्ञ ।

१. स्वयमेव हि सिद्ध्यन्ति सिद्धयः शान्तचेतसाम् ।

अनेक-फल-संपूर्ण मुक्तिमार्गविलम्बिनाम् ॥

संभवन्ति न चाभीष्ट-सिद्धयः क्षुद्रयोगिनाम् ।

भवत्येव पुनस्तेषां स्वार्थ-भ्रंशोऽनिवारितः ॥

भव-प्रभव-सम्बन्ध-निरपेक्षा मुमुक्षवः ।

न हि स्वप्नेऽपि विक्षिप्तं मनःकुर्वन्ति योगिनः ॥

—ज्ञाना. ४०.१२-१४

शान्तचेता, मुक्ति-मार्ग का अवलम्बन करने वाले योगियों को अनेक फलयुक्त सिद्धियां स्वयं ही प्रादुर्भूत होती हैं ।

जो अशुभ लक्ष्य लेकर असद्-ध्यान करते हैं, वैसे क्षुद्रयोगियों—हीन कोटि के ध्याताओं को अभीप्सित सिद्धियां कदापि प्राप्त नहीं होतीं । इतना ही नहीं वरन् उनके स्वार्थ-आत्मानुषंगी लक्ष्य का निश्चय ही भ्रंश—ध्वंस या नाश होता है ।

मोक्ष के अभिलाषी योगी भव-परंपरा को उत्पन्न करने वाले सम्बन्धों से सदा निरपेक्ष रहते हैं । वे स्वप्न में भी अपने मन को सन्मार्ग से विक्षिप्त—विचलित नहीं होने देते ।

२. यो. मा. ३

३. क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथाऽत्यन्तं विपर्ययः ।

तद्वेदेवास्य विज्ञेयस्तदावर्तनियोगतः ॥

—यो. बि. १०२

किसी क्षेत्र—स्थान विशेष में किसी व्यक्ति को कोई रोग हो जाए तो वह भ्रमवश वहां के जलवायु आदि पदार्थों के प्रति बिल्कुल उलटी धारणा बना लेता है कि उनकी प्रतिकूलता से उसे वह रोग हुआ है । उसी प्रकार प्रकृति-आविष्ट पुरुष (आत्मा) को अपने अज्ञान के कारण अत्यन्त विपरीत प्रतीति होने लगती है ।

४. पुरुषः क्षेत्रवित् ज्ञानमिति नाम यदात्मनः ।

अविद्या प्रकृतिः कर्म तदन्यस्य तु भेदतः ॥

भ्रान्ति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम् ।

शास्ता बन्धोऽविकारी च तथाऽनुग्राहकस्य तु ॥

—यो. बि. १७-१८

क्षेप—योगाभ्यास, ध्यान आदि करते समय इन्हें छोड़कर मन का और किसी विषय से जुड़ जाना क्षेप नामक दोष है ।^१

क्षींविद्या—ऐहिक तथा पारलौकिक सिद्धि हेतु प्रयोज्य एक विशिष्ट विद्या ।^२

क्रिया-काल-गुणोत्तर—क्रियातीत, कालातीत एवं गुणातीत ।^३

क्रियाविष्ट—कर्म-पार्थक्य, शुद्धावस्था या आत्मस्थता स्वायत्त कर पाने की क्रिया में संप्रविष्ट ।^४

आत्मा पृथक्-पृथक् दर्शनों में पुरुष, क्षेत्रवित् (क्षेत्रज्ञ), ज्ञान आदि नामों से, आत्मेतर तत्सहवर्ती विजातीय पदार्थ अविद्या, प्रकृति, कर्म आदि नामों से तथा आत्मा का विजातीय द्रव्य के साथ सम्बन्ध भ्रान्ति, प्रवृत्ति, बन्ध आदि नामों से अभिहित हुए हैं । उसी प्रकार अनुग्राहक—आत्मोपकारक—उपास्य, शास्ता, बन्ध, अविकारी आदि नामों से सम्बोधित किये गये हैं ।

१. सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम् ।

परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥

—यो. दृ. स. ४६

बलादृष्टि प्राप्त होने पर योग का तीसरा अंग आसन सिद्ध हो जाता है । इसमें सदबोध की दिशा में विशेष प्रवृत्ति होती है । तत्त्व-श्रवण की तीव्र उत्कंठा जागृत होती है । योगाभ्यास में चैतसिक विक्षेप नहीं होता ।

२. शशिबिम्बादिवोद्भूतां खवतीममृतं सदा ।

विद्यां क्षवीं इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारणम् ॥

—यो. शा. ८.५७

ऐसी उज्ज्वल मानो चन्द्र-बिम्ब से आविर्भूत हुई हो, सदा अमृतवर्षिणी, कल्याण की कारणभूता क्षवीं विद्या का ललाट में ध्यान करना चाहिए ।

३. व्योमरूपो जगन्नाथः क्रियाकालगुणोत्तरः ।

संसारसृष्टिनिर्मुक्तिः सर्वतेजोविलक्षणः ॥ —यो. प्र. ३६

परम प्रभु आकाश की तरह अपरिसीम है, क्रिया, काल आदि गुणों से अतीत है, जगत्-सृष्टि से विनिर्मुक्त एवं सर्वतेजोमयता रूप विलक्षणता से युक्त है ।

४. यथा तथा क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते ।

निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृतः ॥ —यो. बि. ४६६

क्रियाविष्टता—शुद्धावस्था, आत्मस्थता प्राप्त करना समाधि है । जब वह निष्ठा-प्राप्त, सुस्थिर, परिपक्व हो जाती है, समस्त कर्म निवृत्त—क्षीण हो जाते हैं, तब उसे मुक्ति कहा जाता है ।

क्रियावंचकयोग—सत्पुरुषों तथा गुरुजनों को नमस्कार—प्रणाम करना, उनके प्रति विनयशील रहना, उनकी सेवा-शुश्रूषा करना क्रियावंचक योग कहा जाता है, क्योंकि ये क्रियाएं वंचक—ठगने वाली, वृथा सिद्ध होने वाली नहीं हैं। इनका उत्तम फल सुनिश्चित है।

क्रियोदाहरण—औषधि-सेवन का उदाहरण।

क्लिष्ट—अ-विद्या आदि क्लेशों से परिपुष्ट।

१. सद्भिः कल्याणसंपन्नैर्दर्शनादपि पावनैः।

तथादर्शनतो योग आद्यावंचक उच्यते ॥

तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम्।

क्रियावंचकयोगः स्यात् महापापक्षयोदयः ॥

—यो. दृ. स. २१६-२०

कल्याणमय—पुण्यात्मा, जिनके दर्शन मात्र से दर्शकों के मन में पवित्रता उत्पन्न होती है, वैसे उत्तम पुरुषों की पहचानकर उनका योग—सान्निध्य प्राप्त करना योगावंचक कहा जाता है।

वैसे उत्तम पुरुषों को प्रणाम करना, उनका गुण-स्वतन करना, उनकी सेवा करना क्रियावंचक कहा जाता है। इससे घोर पापों का क्षय होता है।

२. अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम्।

धर्मोऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

—यो. बि. २२३

यदि कोई अर्थार्जन का प्रयास न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर, धर्मार्जन में वह प्रयत्नशील न रहे तो (आध्यात्मिक दृष्टि से) बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसे क्रिया—रोग-चिकित्सा के उदाहरण से समझना चाहिए। यदि एक रोगी विधिवत् औषधि-सेवन न करे, पथ्य-परहेज न रखे तो उसका रोग बढ़ता जाता है और अन्ततः रोगी को मार डालता है। इसी प्रकार धर्मार्जन का यथावत् प्रयास न करने से आत्मिक अधःपतन दुर्गति-गमन होता है, जिससे बड़ा और क्या अनर्थ है!

३. परिणामिन्यतो नीत्या चित्रभावे तथात्मनि।

अवस्था-भेद-संगत्या योगमार्गस्य संभवः ॥

तत्स्वभावत्वतो यस्मादस्य तात्त्विक एव हि।

क्लिष्टस्तदन्यसंयोगात् परिणामो भवावहः ॥

—यो. बि. ४६०-६१

(नित्य होने के साथ-साथ) आत्मा परिणामी—परिणमनशील है,

ख

खलीन—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में तेरहवां दोष । रजोहरण को आगे कर खड़ा होना ।^१

खेद—योगाभ्यास आदि सत्कार्य करते हुए परिश्रान्ति या थकान अनुभव करना, अनुत्साहित रहना । आठ योगांगों के परिपंथी आठ दोषों में यह पहला है ।^१

ख्यापना—अर्थ समझना, उसमें तन्मय होना, लीन होना ।^१

ग

गतिच्छेद—गति का निरोध ।^१

विविध भाव सहित है । ऐसा मानना युक्तियुक्त है । उसमें भिन्न-भिन्न अवस्थाओं—परिणमनों का होना संगत है । ऐसा होने पर ही योग-मार्ग—योग-साधना की संभावना घटित होती है ।

(नित्यता और) परिणमनशीलता आत्मा का अपना स्वभाव है, तात्त्विक है—यथार्थ है । अन्य—विजातीय तत्त्वों के संयोग से आत्मा क्लेशमय संसारावस्था में परिणत होती है ।

(अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—योगसूत्र में ये पांच क्लेश कहे गये हैं) ।

१. का. श. १५६०

२. यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः ।

अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता ॥ —यो. दृ. स. १६

जो यम, नियम आदि के साधक हैं, जिन्होंने खेद, उद्वेग आदि दोषों का परिहार कर दिया है, उनके अद्वेष आदि गुणों की आश्रय-भूता मित्रा आदि योग-दृष्टियां क्रमशः सिद्ध होती हैं ।

३. यो. मा. १६

४. प्राणायामो गतिच्छेदः श्वासप्रश्वासयोर्मतः ।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥ —यो. शा. ५.४

श्वास-प्रश्वास की गति का छेद—ग्रहण, स्थापन तथा त्याग के रूप में श्वास-प्रश्वास की गति-छेद—ग्रहण, स्थापना एवं त्याग मूलक विभाजन (अभ्यास) प्राणायाम—कहा जाता है, वह पूरक, कुम्भक तथा रेचक के रूप में तीन प्रकार का है ।

गंधर्वनगर—वास्तविक नगर का प्रतिबिम्ब ।^१

गर—गुरु, देव आदि की अर्चना, व्रत, प्रत्याख्यान आदि के परिपालन से सम्बद्ध पांच प्रकार के अनुष्ठानों में दूसरा अनुष्ठान, जिसमें दैविक भोगों का प्राप्त करने की आकांक्षा जुड़ी रहती है ।^२

गाढ्य—आसक्ति ।^३

गुणवृत्तिविरोध—सत्त्व गुण, रजो गुण तथा तमोगुण के विरुद्ध असमन्वित वर्तन अथवा ज्ञान आदि गुणों के प्रतिकूल वर्तन ।^४

१. वृक्षाग्रे कुत्रचित्पश्येत् गन्धर्वनगरं यदि ।

पश्येत् प्रेतान् पिशाचान् वा दशमे मासि तन्मृतिः ॥

—यो. शा. ५.१३६

यदि किसी को कहीं वृक्ष के ऊपर गंधर्व-नगर—वास्तविक नगर का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर हो या प्रेत और पिशाच दिखाई पड़ें तो उसका दसवें मास में मरण होता है ।

२. इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पंचधा ।

विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥

विष गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।

गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥ —यो. बि. १५४-५५

गुरु आदि की उपासना तथा व्रतादि पालन रूप अनुष्ठान अपेक्षा-भेद से विष, गर, अनुष्ठान, तद्धेतु एवं अमृत—सामान्यतः पांच प्रकार का बतलाया गया है ।

३. स्पर्शं रसे गन्धे च रूपे शब्दे च हारिणि ।

पंचस्वित्तीन्द्रियार्थेषु गाढं गाढ्यस्य वर्जनम् ॥

एतेष्वेवामनोज्ञेषु सर्वथा द्वेष-वर्जनम् ।

आर्कचन्य-व्रतस्यैवं भावनाः पंच कीर्तिताः ॥

—यो. शा. १.३२-३३

पांचों इन्द्रियों के मनोहर-मनोज्ञ (प्रिय) स्पर्श, रस, गन्ध, रूप तथा शब्द मूलक भोगों में सघन आसक्ति का वर्जन एवं अमनोज्ञ—अप्रिय स्पर्श आदि में द्वेष का परित्याग—ये अपरिग्रह-महाव्रत की पांच भावनाएं हैं ।

४. परिणामाच्च तापाच्च संस्काराच्च बुधैर्मतम् ।

गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखं पुण्यभवं स्मृतम् ॥

—अ. सा. ६.१८.६४

पुण्य-प्रसूत सुख परिणाम, ताप, संस्कार तथा ज्ञान आदि गुणों के विरोध के कारण वास्तव में दुःख ही है—ऐसा ज्ञानीजनों ने स्वीकार किया है ।

गुणस्थान—तत्त्व-जिज्ञासा आदि सद्गुणों का आधार, कर्मवृत्त आत्मा के गुणों के उत्तरोत्तर अभ्युदय, आत्म-उज्ज्वलता, ऊर्ध्वगामिता का तात्त्विक विकासक्रम ।^१

गुणानुरागबंधुर्य—गुणग्राहिता का त्याग, गुणद्वेष, छिद्रान्वेषण ।^२

पुप्ति—मन, वचन एवं काय का पाप से गोपन; मन, वचन एवं शरीर द्वारा पापपूर्ण कार्य नहीं करना ।^३

गुरुतंत्रता—गुरु-आज्ञानुवर्तिता ।^४

१. यो. द. स. १६

२. कुशास्त्रेषु बक्षत्वं शास्त्रार्थेषु विपर्ययः ।

स्वच्छन्दता कुतर्कश्च गुणवत्संस्तवोऽभ्युदयम् ।

आत्मोत्कर्षः पर-ब्रह्म-कलहो दंभ-जीवनम् ।

आस्रवाच्छादनं शक्त्युल्लंघनेन क्रियादरः ॥

गुणानुराग-बंधुर्यमुपकारस्य विस्मृतिः ।

अनुबन्धाद्यचिन्ता च प्रणिधानस्य विस्मृतिः ॥

श्रद्धा-मुदुत्वमौद्धत्यमधैर्यमविवेकिता ।

वैराग्यस्य द्वितीयस्य स्मृतेयं लक्षणावली ॥

—अ. सा. २.६.१२-१५

कुशास्त्रों—मिथ्या-शास्त्रों का अर्थ करने में निपुणता, सत् शास्त्रों का अर्थ करने में विपरीतता, स्वच्छन्दता, कुतार्किकता, गुणीजनों के संस्तव-स्तुति, प्रशस्ति का त्याग, अपने बड़प्पन की प्रसिद्धि, दूसरों से डाह, कलह, दंभमय जीवन, अशुभ आस्रवों—पापों का गोपन—छिपाव, अपनी शक्ति का लंघन कर क्रिया का आदर (अपनी ताकत से बाहर कार्य करने का आग्रह), गुणों के प्रति अनुराग का अभाव, उपकार की विस्मृति, पुण्यानुबंधी, पापानुबंधी कर्मों का अविचार, धर्माचरण में एकाग्रता का विस्मरण—अजागरूक भाव, श्रद्धा में शिथिलता-दुर्बलता, उद्वेगता, अधीरता, अविवेक—दुःख-गर्भित, मोह-गर्भित तथा ज्ञानगर्भित—वैराग्य के तीन भेदों में दूसरे भेद के ये लक्षण हैं ।

३. का. श. १५१२

४. गुरुकुलवासो गुरुतंतयाए उचिय-विणयस्स करणं च ।

वसही-पमज्जणाइसुं जत्तो तह काल-वेक्खाए ॥

अणिगूहणा बलम्मी सव्वस्स पवत्तणं पसंतीए ।

नियलाभचित्ताणं सइ अणुग्गहो मे त्ति गुरु-वयणे ॥

गुरुत्व—गौरव, संप्रतिष्ठा ।^१

गुरु-साधव-चिन्ता—बड़ापन-छोटापन, भारीपन-हलकापन सम्बन्धी चिन्तन ।^१

संवर-निच्छिड्डत्वं सुदुंछा-जीवणं सुपरिसुद्धं ।

विहि-सज्जाओ मरणाऽवेक्षणं जइजणुवएसो ॥

—यो. श. ३३-३५

गुरु के तंत्र—आदेश में रहते हुए गुरु-कुल में—गुरु की सन्निधि में अपने सतीर्थ्यों—गुरु-बन्धुओं के बीच निवास करना, समुचित रूप में विनय का अनुसरण करना, समय पर अपने आवास-स्थान के प्रमा-र्जन आदि में सयत्न रहना, अपनी शक्ति का निगूहन—गोपन करते हुए—मैं क्यों इतना कष्ट भेजूं—इस प्रकार अपना बल नहीं छिपाते हुए (अपनी पूरी शक्ति के साथ) प्रशान्तभाव से सब कार्यों में प्रवृत्त रहना, गुरु-वचन-पालन में मेरा लाभ है, यों चिन्तन करते हुए गुरु-वचनानुवर्ती रहना, निश्छिद्र—निर्दोष, अखण्ड संयम का पालन करना, विशुद्ध, तितिक्षापूर्ण भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीवन चलाना, विधिपूर्वक स्वाध्याय करना, मृत्यु का अवेक्षण करना—मध्यस्थ भाव से, निर्भीक भाव से मृत्यु का सामना करने हेतु उद्यत रहना—यह यति-धर्म है ।

१. किं चान्यद् योगतः स्थैर्यं धैर्यं श्रद्धा च जायते ।

मैत्री जन-प्रियत्वं च प्रातिभं-तत्त्वभासनम् ॥

विनिवृत्ताग्रहत्वं च तथा द्वन्द्व-सहिष्णुता ।

तदभावश्च लाभश्च बाह्यानां काल-संगतः ॥

धृतिः क्षमा सदाचारो योगवृद्धिः शुभोदया ।

आवेयता गुरुत्वं च शम-सौख्यमनुत्तमम् ॥ —यो. बि. ५२-५४

स्थिरता, धीरज, श्रद्धा, मैत्री, जन-प्रियता, प्रतिभा-प्रसूत तत्त्व-ज्ञान, आग्रहीनता, विषम-स्थिति में सहनशीलता, प्रतिकूल-स्थिति उत्पन्न न होना, बाह्य स्थितियों की समयानुरूप अनुकूलता, संतोष, क्षमा, सदाचरण, शुभफलयुक्त योगोन्नति, आदेयभाव—आदर्श पुरुष के रूप में प्रतिष्ठा, गुरुत्व—गौरव, आध्यात्मिक गरिमा, सर्वोत्कृष्ट प्रशम—सुख, अनिर्वचनीय शान्ति की अनुभूति—ये सब योग से फलित होते हैं ।

२. द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वेकान्तानुबन्धनात् ।

गुरुलाघवचिन्तादि न यत् तत्र नियोगतः ॥ —यो. बि. २१७

दूसरी कोटि के अनुष्ठान में सामान्य रूप में दोष भिड़ तो जाते हैं, पर एकान्तरूप से दोष-क्षय निष्पन्न नहीं होता—पूर्णतः दोष अपगत नहीं होते । साधक अपने क्रिया-कलाप में गुरु-लघु—उच्च-अनुच्च का चिन्तन नहीं कर पाता ।

गुरुविकृति—महामोहबन्धोदय—संपादक विकार ।^१

गोत्र-नाश—गोत्र-कर्म का क्षय ।^२

गोत्रवान्—गोत्रयोगी, भूमिभव्य । आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारतभूमि में उत्पन्न जन भूमिभव्य माने जाते हैं । इस भूमि में योग-साधना के अनुरूप समुचित सामग्री, साधन, सत्पुरुषों का सान्निध्य आदि सुलभ रहते हैं । भूमि की अनुकूलता, पवित्रता के कारण भूमिभव्य गोत्रवान् या गोत्र-योगी भी कहे जाते हैं ।^३

गोदोहिकासन—गाय दुहते समय बैठने की स्थिति जैसा आसन ।^४

१. घनाशा यच्छायाऽप्यतिविषममूर्च्छाप्रणयिनी ।

विलासो नारीणां गुरुविकृतये यत्सुमरसः ॥

फलास्वादो यस्य प्रसरनकव्याधिनिवहः ।

तदास्था नो युक्ता भवविषतरावत्र सुधियाम् ॥

—अ. सा. १.४.१०

यह संसार एक विष-वृक्ष है । घन-लिप्सा उसकी छाया है, जो विषयासक्ति उत्पन्न करती है । स्त्रियों का विलास उसका पुष्प-रस-पराग है, जो घोर विकृति-जनक है । उसके फलों का स्वाद नारकीय दुःख-समूह के तुल्य है । बुद्धिशील पुरुषों को इस भव-रूप विषवृक्ष में आस्था नहीं रखनी चाहिए ।

२. यो. मा. ३८

३. ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।

कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥

—यो. दू. स. २१०

जो योगियों के कुल में उत्पन्न हैं—जिन्हें पूर्व-संस्कारवश जन्म से ही योग प्राप्त है, सहज रूप में योग-साधना का अनुसरण करते हैं, वे कुलयोगी कहलाते हैं ।

आर्यक्षेत्र के अंतर्गत भारत-भूमि में उत्पन्न भूमि-भव्य-गोत्रयोगी कहे जाते हैं ।

४. पुतपाणिनसमायोगे प्राहुर्त्कटिकासनम् ।

पाणिभ्यां तु भुवस्त्यागे तत्स्याद् गोदोहिकासनम् ॥

—यो. शा. ४.१३२

भूमि से संलग्न दोनों एड़ियों के साथ जब दोनों नितम्ब मिले हुए हों, तब उत्कटिकासन होता है और जब एड़ियां भूमि का त्याग किये हुए हों—भूमि-संलग्न न हों, तब गोदोहिकासन होता है ।

गोपेन्द्र—एक अज्ञात-परिचय सांख्ययोगाचार्य । इनका कोई इतिहास प्राप्त नहीं है । नामोल्लेख भी जहां तक संभव है, केवल आचार्य हरिभद्र सूरि कृत योगबिन्दु में ही हुआ है ।^१

१. तथा चान्यैरपि ह्येतद् योग-मार्ग-कृत-श्रमैः ।

संगीतमुक्तिभेदेन यद् गोपेन्द्रमिदं वचः ॥

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।

न पुंसस्तत्त्व-मार्गोऽस्मिन् जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥

क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथात्यन्तं विपर्ययः ।

तद्वदेवास्य विज्ञेयस्तदावर्त-नियोगतः ॥

जिज्ञासायामपि ह्यत्र कश्चित् सर्गो निवर्तते ।

नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम् ॥

ततस्तदात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषतः ।

मन्त्राद्यपि सदा चारु सर्वावस्थाहितं मतम् ॥ —यो. बि. १००-१०४

जिन्होंने परिश्रम पूर्वक (लगन के साथ) योगाभ्यास किया है, उन जैनतर परम्पराओं के योगवेत्ताओं ने भी, उसी तथ्य का निरूपण किया है, जो यहां (जैन योग में) वर्णित है । वहां केवल भाषा का भेद है । जैसे आचार्य गोपेन्द्र ने कहा है—

जब तक पुरुष पर छाया हुआ प्रकृति का अधिकार सर्वथा निवृत्त नहीं हो जाता—हट नहीं जाता, तब तक पुरुष की तत्त्व-मार्ग में जिज्ञासा ही नहीं होती ।

जैसे किसी विशेष क्षेत्र या स्थान में किसी को कोई रोग हो जाए तो वह (रोगी) भ्रान्तिवश यही धारणा बना लेता है कि वहां के प्रतिकूल जलवायु के कारण उसे वह रोग हुआ है । वैसे ही प्रकृति द्वारा आवृत्त—अधिकृत पुरुष को अपने अज्ञान के कारण वस्तुस्थिति विपरीत प्रतिभासित होती है ।

योग की जिज्ञासा स्वायत्त करने हेतु भी पुरुष को बड़ा समय लगता है । जब तक उसके पाप क्षीण नहीं हो जाते, तब तक यह निश्चित है, मनुष्य पुण्यमय बुद्धि प्राप्त नहीं कर पाता ।

जब पुरुष को विवेकपूर्ण बुद्धि प्राप्त हो जाती है (वह विवेक-ख्याति प्राप्त कर लेता है), तब वह कल्याण-मार्ग अपना लेता है । भविष्य में भी वह कल्याण-परम्परा चालू रहती है ।

जैसे मणि, मंत्र, औषधि आदि का यथाविधि श्रद्धा एवं आदर के साथ सेवन सभी अवस्थाओं में हित—उत्तम फल प्रदान करता है, उसी प्रकार सद्ज्ञानपूर्ण बुद्धि के आश्रयण से पुरुष आत्मकल्याण रूप उत्तम फल प्राप्त करता है ।

गौरवाभाव—भारीपन का अभाव ।^१

अन्य—परिग्रह ।^२

१. नोर्ध्वमुपग्रहविरहादधोऽपि नैव गौरवाभावात् ।

योगप्रयोगविगमात् न तिर्यगपि तस्य गतिरस्ति ॥

—यो. शा. ११.५६

सिद्धात्मा लोक से ऊपर (अलोकाकाश में) नहीं जाती क्योंकि वहाँ उपग्रह-विरह—धर्मास्तिकाय रूप आधार (उदासीन सहायक) का अभाव है । वह नीचे भी नहीं जाती, क्योंकि उसमें गौरव-गुहता (भारीपन) नहीं होता । वह तिरछी भी नहीं जाती, क्योंकि उसमें शरीर आदि योग तथा प्रयोग—अन्य द्वारा प्रेरणा नहीं है ।

२. दश ग्रंथा मता बाह्या अन्तरंगाः चतुर्वशः ।

तान् मुक्त्वा भव-निःसंगो भाव-शुद्ध्या भूँण मुने !

वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं द्विपदाश्च चतुष्पदाः ।

शयनासनयानं च कुप्यं भाण्डमस्मी दश ॥

निःसंगोऽपि मुनिर्न स्यात् समूर्च्छः संग-वर्जितः ।

यतो मूर्च्छेव तत्त्वज्ञः संग-सूतिः प्रकीर्तिताः ॥

स्वजन-धन-धान्य-द्वाराः पशु-पुत्र-पुराकरा गृहं भृत्याः ।

मणि-कनक-रचित-शय्या वस्त्राभरणादि बाह्यार्थाः ॥

मिथ्यात्व-वेद-रागा दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव ।

चत्वारश्च कषायाः चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रंथाः ॥ —ज्ञाना. १६.३-६

मुनिवर ! दश बाह्य परिग्रहों और दश अंतरंग-परिग्रहों का त्याग कर भाव-शुद्धि पूर्वक निःसंग—निष्परिग्रह (निरासक्त) बनो ।

वास्तु—मकान, क्षेत्र—खेत, धन, धान्य, द्विपद—मनुष्य, चतुष्पद—चौपाये (गज, अश्व, गो आदि पशु) शयनासन, यान, कुप्य तथा भाण्ड—पात्र—ये दश बाह्य परिग्रह हैं ।

जो मुनि बाह्य परिग्रहों को छोड़ चुका हो, पर उनमें मूर्च्छा-ममत्व, मोह रखता हो, वह वास्तव में अपरिग्रही नहीं होता । क्योंकि तत्त्व-द्रष्टाओं ने मूर्च्छा को ही परिग्रह की प्रसूति—उत्पत्ति का हेतु कहा है ।

स्वजन, धन, धान्य, स्त्री, पशु, पुत्र, पुर, खान, घर, नौकर, रत्न-स्वर्ण निर्मित शय्या, वस्त्र, आभूषण आदि सभी बाह्य परिग्रह हैं ।

मिथ्यात्व, वेद—स्त्री-वेद, पुरुष-वेद, नपुंसक-वेद, हास्य आदि—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चवदह अंतरंग—परिग्रह हैं ।

ग्रन्थिभेद—रागात्मक कर्मग्रंथि का टूटना ग्रन्थिभेद है, जो अन्तिम यथाप्रवृत्ति-करण के अनन्तर अपूर्वकरण में सधता है ।^१

घ

घनविवरता—सघन छिद्रयुक्तता, रिक्तता या पोलापन ।^२

१. एतच्च सत्प्रणामादि-निमित्तं समये स्थितम् ।
 अस्य हेतुश्च परमस्तथा भावमलाल्पता ॥
 नास्मिन् घने यतः सत्सु तत्प्रतीतिर्महोदया ।
 किं सम्यग् रूपमाधत्ते कदाचित् मन्दलोचनः ॥
 अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारेण बाध्यते ।
 चेष्टते चेष्टतिद्वयर्थं वृत्त्यैवायं तथा हिते ॥
 यथाप्रवृत्तिकरणे चरमेऽल्पमलत्वः ।
 आसन्न-ग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यवः ॥

—यो. द. स. १३८

उत्तम पुरुषों को प्रणाम, उनकी सेवा-शुश्रूषा आदि सत्कार्यों के परिणाम-स्वरूप अवंचक-त्रय प्राप्त होता है, सत्प्रणाम आदि श्रेष्ठ कार्यों का मुख्य कारण भाव-मल-भावनाओं के मालिन्य की अल्पता है ।

जब तक भावनाओं का मालिन्य सघन होता है, तब तक साधक के मन में सत्पुरुषों के प्रति उत्कृष्टफलप्रद आंतरिक श्रद्धात्मक प्रतीति नहीं होती । मन्द नेत्र-ज्योतिर्युक्त पुरुष क्या दृश्य—देखने योग्य पदार्थों का रूप भलीभाँति गृहीत कर सकता है ? (नहीं कर सकता) ।

स्वल्पव्याधियुक्त—लगभग स्वस्थ सदृश पुरुष अवशिष्ट रहे अति साधारण-व्याधि-विकारों के कारण अभीप्स कार्य सिद्ध करने के प्रयत्न में बाधित नहीं होता, उसके बाधाएं उपस्थित नहीं होतीं, वह उस ओर लगा रहता है, उसी प्रकार अल्पभाव-मययुक्त साधक हितप्रद, श्रेयस्कर योगाभ्यास में प्रवृत्त रहता है ।

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण की स्थिति में अंतर्मल की अल्पता के कारण ग्रंथि-भेद के निकट पहुँचे हुए साधक के यह सब (उपर्युक्त) घटित होता है ।

घाति-कर्म—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म, जो आत्मा के मूल गुण ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य तथा सुख का घात—अवरोध या आवरण करते हैं ।^१

घात्यघध्वंसन—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—इन चार घाति—आत्मा के प्रमुख गुणों का घात करने वाले कर्मों का क्षय ।^२

घोटक—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में पहला दोष । घड़े की तरह पैरों को विषम स्थिति में रखना ।^३

च

चतुःशरण—अर्हत्, सिद्ध, साधु तथा सर्वज्ञ-प्ररूपित धर्म रूप चार शरण ।^४

१. घातिकर्माभ्रकल्पं तदुक्तयोगानिलाहते ।

यदाऽपेति तदा श्रीणान् जायते ज्ञानकेवली ॥

—यो. दृ. स. १८४

आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्म मेघ के सदृश हैं । जब वे योग रूपी वायु से आहत होकर छंट जाते हैं, तब साधक आत्म-लक्ष्मी प्राप्त कर—आत्मा का शुद्ध स्वरूप अधिगत कर सर्वज्ञ हो जाता है ।

२. यो. मा. २६

३. का. श. १५६०

४. सोऽथावश्यक-योगानां भंगे मृत्योरथागमे ।

कृत्वा संलेखनामादौ प्रतिपद्य च संयमम् ॥

जन्म-दीक्षा-ज्ञान-मोक्ष-स्थानेषु श्रीमदहंताम् ।

तदभावे गृहेऽरण्ये स्थंडिले जन्तुर्वर्जिते ॥

त्यक्त्वा चतुर्विधाहारं नमस्कार-परायणः ।

आराधनां विधायोच्चैः चतुःशरणमाश्रितः ॥

इहलोके परलोके जीविते मरणे तथा ।

त्यक्त्वा शंसां निदानं च समाधिसुधयोक्षितः ॥

परीषहोपसर्गभ्यो निर्भीको जिन-भक्तिमाक् ।

प्रतिपद्यते मरणमानन्दः श्रावको यथा ॥

—यो. शा. ३.१४८-५२

चय—काय ।^१

चरण—लक्ष्य की ओर गतिशीलता, चारित्र्य ।^१

जब श्रावक आवश्यक दैहिक क्रियाएं करने में संयमोचित (धर्म) कार्य करने में अक्षय हो जाए, मृत्यु-काल नजदीक आ जाए, तब वह आदि में संलेखना—आहार-त्याग करे, दैहिक आसक्ति एवं क्रोध आदि का त्याग करे, संयम स्वीकार करे ।

संलेखना स्वीकार करने हेतु वह तीर्थंकरों के जन्म-कल्याणक, दीक्षा-कल्याणक, ज्ञान-कल्याणक एवं मोक्ष-कल्याणक—इनमें से किसी का चयन करे । यदि वैसा संभव न हो (वैसे स्थान सन्निकटवर्ती न हों तो) अपने घर में या वन में जीव-जन्तु-वर्जित (एकान्त, प्रशान्त) स्थान में संलेखना करे ।

वह सबले पहले अशन, पान, खादिम, स्वादिम—चारों प्रकार के आहार का परित्यागकर नमस्कार महामंत्र के जप में तत्पर हो जाए, ज्ञान आदि की निरतिचार आराधना करे, चतुःशरण—अर्हत्, सिद्ध, साधु तथा केवलि-प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करे ।

उस समय उस श्रावक के मन में न ऐहिक कामना उत्पन्न हो और न पारलौकिक ही । न उसके मन में जीवित रहने की अभिलाषा हो और न मरने की ही । निदानयुक्त साधना-जनित लौकिक फल की लिप्सा भी उसे न रहे । वह सर्वथा कामनातीत होकर समाधि के अमृत से संसिक्त (सिचित) रहे । वह परिषर्णों तथा उपसर्गों से निर्भय रहे, जिनेश्वरदेव की भक्ति में लीन रहे । आनन्द श्रावक की तरह वह समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करे ।

१. का. श. १४६०

२. प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्त्रो नोत्तरास्तथा ।

सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः ॥

प्रयाणभंगाभावेन निशि स्वापसमः पुनः ।

विधातो दिव्यभावतश्चरणस्योपजायते ॥

—यो. दू. स. १६-२०

मित्रा, तारा, बला एवं दीप्रा—ये पहली चार दृष्टियां प्रतिपात—पतन या भ्रंश युक्त हैं—इनमें साधक का पतित होना आशंकित है । पतन की आशंका के कारण ये सापाय-अपाय या विघ्न-युक्त हैं ।

स्थिरा, कान्ता, प्रभा एवं परा—आगे की ये चार दृष्टियां प्रतिपातरहित एवं अपाय रहित हैं ।

चरमवेह—चरम शरीरी, वर्तमान शरीर के अनन्तर जिसे और शरीर धारण नहीं करना है, मुक्त होना है ।^१

चरमपुद्गलावर्त—अन्तिम पुद्गलावर्त । लोकव्यापी समग्र पुद्गलों का जीव द्वारा एक बार संस्पृष्ट किया जाना पुद्गलावर्त कहा जाता है ।

चरम पुद्गलावर्त अन्तिम इसलिए है कि उसके अनन्तर जीव को पुनः पौद्गलिक संस्पर्श में नहीं आना पड़ता । वह मुक्त हो जाता है ।^२

अप्रतिपाति दृष्टि प्राप्त कर लेने पर साधक का अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर प्रयाण चालू हो जाता है (वह लगातार आगे बढ़ता रहता है) । राहगीर का जैसे अपनी यात्रा के मध्य रात में सोने हेतु कहीं रुकना पड़ता है, उसी प्रकार अपने अवशिष्ट कर्मों का भोग पूर्ण कर लेने हेतु साधक को अपनी (आध्यात्मिक) यात्रा के बीच देव-भव आदि में से गुजरना होता है, जो चरण-चारित्र्य की दिशा में आगे बढ़ने में (कुछ समय के लिए) एक प्रकार का विघात है ।

१. एवं चरमवेहस्य संपरायवियोगतः ।

इत्वरान्नवभावेऽपि स तथाऽनान्नवो मतः ॥

—यो. बि. ३७७

चरम शरीरी—वर्तमान शरीर के बाद जिसे और शरीर धारण नहीं करना होता, जो (वर्तमान शरीर के अनन्तर) मोक्ष प्राप्त करता है, जिसके संपराय-वियोग—सध गया है—कषाय नष्ट हो गये हैं, उसके सांपरायिक आस्रव-बंध नहीं होता । अति साधारण आस्रव के प्रवृत्त रहने पर भी वह अनास्रव कहा जाता है, क्योंकि वह बन्ध अत्यन्त मन्द, स्वल्प एवं लघु होता है ।

(जैन दर्शन के अनुसार बारहवें क्षीणमोहनीय तथा तेरहवें केवल-गुण स्थान में आस्रव-प्रक्रिया—कर्म-बन्ध का यही रूप रहता है) ।

२. चरमे पुद्गलावर्ते तथाभव्यत्वपाकतः ।

संशुद्धमेतन्नियमान्नान्यदापीति तद्विदः ॥

—यो. द. स. २४

बीज-सिद्धि आदि की दृष्टि से भव्यत्व-मोक्षोन्मुख भाव (योग्यता) के परिपाक के परिणाम-स्वरूप अन्तिम पुद्गल-परावर्त के समय ही “कुशल चित्त” आदि योग-बीज सम्यक् रूप में शुद्ध होते हैं । तत्त्व-द्रष्टा ऐसा बतलाते हैं ।

चरमावर्तप्रवृत्त—चरम पुद्गलावर्त में विद्यमान ।^१

चलरागपरिणत—चांचल्यपूर्ण रागात्मक भाव में प्रवर्तमान ।^२

चातुरास्याभिराम—चार मुखों द्वारा सुन्दर प्रतीयमान ।^३

चान्द्रायण—व्रत-विशेष, जिसमें चन्द्रमा की वृद्धि और ह्रास के आधार पर भोजन के कवलों की संख्या निर्भर होती है ।^४

व्रती शुक्ल प्रतिपदा से एक कवल-आहार से व्रत का प्रारम्भ करता है । प्रतिदिन एक-एक बढ़ाता जाता है । यों पूर्णिमा को वह पन्द्रह कवल आहार ग्रहण करता है । फिर कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से एक-एक कवल घटाता जाता है । इस प्रकार कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को वह एक कवल आहार पर आ जाता है । अमावस्या को निराहार रहता है ।^५

१. चरमाण पवत्ताणं जोगीणं जोगसाहणोवाओ ।

एसो पहाणतरओ नवर पवत्तस्स विन्नेओ ॥

भावण-सुय-पाढो तित्थसवणमसयं तयत्थजाणम्मि ।

तत्तो य आय-पेहणमइनिउणं दोसवेक्खाए ॥

—यो. शा. ५१-५२

पूर्व वर्णित योगसाधनोपाय चरम-पुद्गल-परावर्त में विद्यमान योगियों के लिए हैं ।

योग-साधना में प्रवृत्त मात्र योगियों के लिए—नये योगाभ्यासियों के लिए यहां बताया जा रहा मार्ग मुख्य उपाय के रूप में समझना चाहिए ।

नवाभ्यासियों को भावना, श्रुतपाठ, तीर्थ-सेवन, पुनः-पुनः शास्त्र-श्रवण, तदनन्तर अपने दोषों के वीक्षण—गवेषण हेतु सूक्ष्मता-पूर्वक आत्मप्रेक्षण करना चाहिए ।

२. रोगरापरिणामं नरगाइविवागसंयं अह्वा ।

चलरागपरिणयं जीयनासणविवागदोस त्ति ॥

—यो. शा. ६८

जो शरीर रोग तथा वृद्धावस्था से जर्जर हो जाता है, जो अपने अशुभ कर्मों के परिणाम-स्वरूप नरक आदि गतियों में भटकता है, कितने अचरज की बात है, उस शरीर के प्रति चंचलतापूर्ण राग उत्पन्न होता है, जो जीवन को नष्ट कर देता है, जिसका परिणाम बड़ा दोषपूर्ण (क्लेशमय) होता है ।

३. यो. मा. २७

४. तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पाप-तापनम् ।

तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं भृत्युचनं पापसूदनम् ॥

चार—नाभि से पवन का निःसरण ।^१

चारित्रमोह—चारित्र—आत्मस्वरूप में गतिमत्ता, संयत जीवनचर्या में बाधा उत्पन्न करने वाला कर्म ।^२

चारित्रि—चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम के कारण आंशिक रूप से या पूर्णरूप से चारित्रसम्पन्न । आचार्य हरिभद्र के अनुसार निश्चय-दृष्टि से स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन रूप पंचविध योग की पात्रता उसी में है, जो चारित्र सम्पन्न है ।^३

एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च हापयेत् ।

भुञ्जीत नामावस्यायामेष चान्द्रायणो विधिः ॥

—यो. बि. १३१-३२

तप पापों को तप्त—नष्ट करता है । साधक को यथाशक्ति उसका आचरण करना चाहिए । उसके चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न, पाप-सूदन आदि अनेक भेद हैं ।

चान्द्रायण-व्रत को विधि है—शुक्ल पक्ष में, भोजन में, हर रोज एक-एक कवल बढ़ाते जाना चाहिए तथा कृष्ण-पक्ष में एक-एक कवल घटाते जाना चाहिए । अमावस्या को निराहार रहना चाहिए ।

१. नार्भेनिष्क्रामतश्चारं हन्मध्ये नयतो गतिम् ।

तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विन्यात् स्थानं नभस्वतः ॥

—यो. शा. ५.६७

नाभि से वायु का निष्क्रमण “चार” कहा जाता है । हृदय के बीच से वायु का जाना “गति” और उसका ब्रह्मरन्ध्र में टिकना “स्थान” या स्थिति कहलाता है ।

२. लब्ध्वापि यत् प्रमाद्यन्ति यत्स्खलन्त्यथ संयमात् ।

सोऽपि चारित्रमोहस्य विपाकः परिकीर्तितः ॥

—ज्ञाना. ३५.१८

जो संयम को ग्रहण कर, फिर उससे स्खलित—च्युत हो जाते हैं, उसका कारण चारित्र-मोहनीय कर्म का उदय बतलाया गया है ।

३. देसे सव्वे य तथा नियमेणेसो चरित्तिणो होई ।

इयरस्स बीयमित्तं इतुच्चिय केइ इच्छंति ॥

—यो. बि. ३

(योगविशिका की द्वितीय कारिका में वर्णित) पांच प्रकार का योग निश्चय-दृष्टि से अंशतः या संपूर्णतः चारित्रि—चारित्र-संपन्न अथवा संयमी के सिद्ध होता है । उसके अतिरिक्त अन्य के बीज-मात्र केवल योग-बीज के रूप में होता है ।

व्यावहारिक दृष्टि से कुछ लोग इसे योग भी कहते हैं ।

चारिसंजीवनी न्याय—आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा नवाभ्यासी साधकों के हितार्थ योगबिन्दु में दिया गया एक दृष्टान्त ।^१

चित्तत्व—चेतनालक्षण आत्मतत्त्व ।^२

चित्तपाती—चैतसिक आसक्तियुक्त ।^३

चित्तवृत्तिनिरोध—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, तथा स्मृति—चित्त की इन पांच वृत्तियों का निरोध, नियन्त्रण ।^४

१. यो. बि ११६

२. अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्वं भूतजं यदि ।

अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥

—स. श. १००

यदि चार्वाक-मतानुसार चेतन पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु—इन चार भूतों के संयोग से जनित है तो उन भूतों का वियोग होते ही बिना किसी यत्न के निर्वाण प्राप्त हो जायेगा—सब कुछ समाप्त हो जायेगा ।

वस्तुसत्य ऐसा नहीं है । निर्वाण योगाभ्यास द्वारा साध्य है । योगी साधना-काल में उत्पन्न होते दुःखों, विघ्नों को दुःख या विघ्न मानते ही नहीं ।

३. तह कायपायणो न पुण चित्तमहिगिच्च बोहिसत्तति ।

होति तह भावणाओ आसयजोगेण सुद्धाओ ॥

—यो. श. ८८

बौद्ध परंपरा में बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि वे कायपाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते—केवल देह से कर्म करते हैं, उनका चित्त कर्मों में व्याप्त, आसक्त नहीं होता । उत्तम आशय के योग से उनकी भावनाएं शुद्ध होती हैं (वे चित्त-शुद्धियुक्त होते हैं) ।

४. तल्लक्खणं जोगाओ चित्तविस्ती-निरोहओ चेव ।

तह कुसलपविस्तीरं मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ॥

—यो. श. २२

चैतसिक वृत्तियों का निरोध, कुशल प्रवृत्ति, मोक्ष से योजन—जोड़ना प्रभृति योग-लक्षण भिन्न-भिन्न परम्पराओं, विधाओं में सम्यक् घटित हैं ।

चित्त-विप्लव—चैतसिक क्षुब्धता ।^१

चित्त-स्थैर्य—चित्त में स्थिरता, चंचलता का अभाव ।^२

चितावस्थान—चित्तवृत्तियों का टिकाव ।^३

चित्रोपाधि—भिन्न-भिन्न उपाधियाँ या अभिधान ।^४

चिदचिद्रूपतापन्न—चेतन, अचेतन, सजीव, निर्जीव—दो प्रकार के रूप लिये हुए ।^५

चिदानन्दधन—चिन्मय—आनन्दमय स्वरूप ।^६

१. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।

यदसत्स्वपि जायेत मूर्च्छया चित्त-विप्लवः ॥

—यो. शा. १.२४

समस्त भावों में—पर-पदार्थों में मूर्च्छा—आसक्ति का त्याग अपरिग्रह कहा जाता है—पदार्थों की अविद्यमानता में भी यदि उस ओर आसक्ति रहे तो चित्त में विक्षोभ उत्पन्न होता है ।

२. एवं अब्भासाओ तत्तं परिणमय चित्थेज्जं च ।

जायइ भावाणुगासी तिवसुहसंसाहगं परम् ॥

—यो. श. ७७

योग के अभ्यास से भावानुरूप तत्त्व-परिणमन-साक्षात्कार, चैतसिक स्थिरता एवं परम—सर्वश्रेष्ठ, अनुपम सुख-संसाधक—आत्मानन्द की अनुभूति कराने वाला मोक्ष प्राप्त होता है ।

३. ध्या. श. ३

४. यो. बि. ३०६

५. चिदचिद्रूपतापन्नं यत् परस्वमनेकधा ।

तत्त्याज्यं संयमोद्दाम-मीमांसारक्षणोद्दामैः ॥

—ज्ञाना. १०.१७

पर-धन-चेतन—दास, दासी, गो, अश्व, गज आदि, अचेतन—धन, धान्य, स्वर्ण, रत्न आदि के रूप में अनेक प्रकार का है । संयम की उच्च मर्यादा के रक्षण हेतु उद्यत पुरुषों के लिए वह त्याज्य है ।

६. शरीररूपलावण्य-ग्रामारामधनादिभिः ।

उत्कर्षः परपर्यायैश्चिदानन्दधनस्य कः ॥

—ज्ञा. सा. अनात्मशंसाष्टक ५

शरीर, रूप, सौन्दर्य, ग्राम, उद्यान, धन आदि पर-पर्यायों से चिदानन्दधन आत्मा का कैसा उत्कर्ष ? कैसी शोभा ?

चिदानन्दपदोपभोगी—आत्मज्ञान-जनित आनन्दानुभूति में निमग्न ।^१

चिदानन्दस्यन्द—ज्ञानजनित आनन्द-प्रसूति ।^२

चिद्भरोद्भासिवीर्यं—ज्ञान के वैशिष्ट्य से उद्भासित-शक्ति ।^३

चिद्रूप—चेतनात्मक रूपमय ।^४

चिन्तना—अधीत शास्त्रों पर तात्त्विक ऊहापोह, मनन-विमर्श ।^५

१. आत्मप्रवृत्तावतिजागरूकः परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः ।

सदा चिदानन्दपदोपभोगी लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी ॥

—अध्या. ४.२

जो आत्म-प्रवृत्ति में अत्यन्त जागरूक रहता है, जो पर-प्रवृत्ति में बहरे, अंधे और गूंगे की ज्यों सर्वथा निरपेक्ष रहता है, वह योगी सदा चिन्मय, आनन्दमय अवस्था में लीन रहता है, वह अनुपम समता प्राप्त करता है ।

२. दधानाः काठिन्यं निरवधिकमाविष्टाभव-

प्रपंचाः पंचालीकुचकलशवन्नाति रतिदाः ।

गलत्यज्ञानाभ्रे प्रसृमररुचावात्मनि विधौ,

चिदानन्दस्यन्दः सहज इति तेभ्योऽस्ति विरतिः ॥

—अ. सा. १.४.२४

काष्ठ या पाषाण निर्मित पुत्तलिका—नारी प्रतिकृति के अत्यंत कठिन स्तन-कलश (कलशवत् परिपुष्ट स्तन) जैसे रतिप्रद-प्रीतिकर, आनन्ददायक नहीं होते, उसी प्रकार (सत्तत्त्व का बोध हो जाने पर) अज्ञान-प्रसृत सांसारिक भोगमय प्रपंच प्रिय नहीं लगते । अज्ञान रूपी मेघ के बिखर जाने पर, आत्म-ज्ञान रूपी चन्द्र के उदित हो जाने पर (आत्मा से) सहज रूप में ज्ञान एवं आनन्द का निर्भर फूट पड़ता है । अतः सांसारिक प्रपंचों से विरति हो, यही उत्तम (अभिलषणीय) है ।

३. अ. सा. ६५

४. यो. बि. ४५५

५. आचार्यादिष्वपि ह्येतद् विशुद्धं भाव-योगिषु ।

वैयावृत्यं च विधिवत् शुद्धाशय-विशेषतः ॥

भयोद्वेगश्च सहजो द्रव्याभिग्रह-पालनम् ।

तथा सिद्धान्तमाश्रित्य विधिना लेखनादि च ॥

लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।

प्रकाशनाथ स्वाध्ययश्चिन्तना भावनेति च ॥

—यो. दू. स. २६-२८

भावयोगी—अध्यात्म-योग में निरत आचार्य आदि सत्पुरुषों की

चिन्ताविसिद्धि—आत्मा में सत्त्वोन्मुख चिन्तन का प्रादुर्भाव ।^१

चेष्टा—कायोत्सर्ग के चार भेदों में पहला भेद । भिक्षाचार्य आदि प्रवृत्ति के चर्या अनन्तर कायोत्सर्ग करना चेष्टा कायोत्सर्ग है । इसका पंचमहा-
व्रती साधु से सम्बन्ध है ।^२

चौर्यानन्द—चोरी में चैतसिक तन्मयता—सुखानुभूति । रौद्र ध्यान के चार
भेदों में स्तेयानुबन्धी नामक तीसरा भेद ।^३

छ

छापस्थ—असर्वज्ञ, अल्पज्ञ, ज्ञानावरणादियुक्त ।^४

विधिवत् शुद्ध भावपूर्वक सेवा, सहज रूप में संसार से वैराग्य, योग्य
पात्र को निर्दोष आहार, औषध, धार्मिक जीवन में अपेक्षित उपकरण
आदि का दान, सत् शास्त्रों का लेखन, पूजन, योग्य अधिकारी को
दान, शास्त्रों का श्रवण, पठन, प्रकाशन—प्रसारण, स्वाध्याय, चिन्तन-
मनन, भावन—पुनः पुनः आवर्तन—ज्ञानका योग-बीजों में समावेश है ।

१. तथा भव्यत्वतश्चित्रनिमित्तोपनिपाततः ।

एवं चिन्ताविसिद्धिश्च सन्न्यायागमसंगताः ॥ —यो. बि. २६१

भव्यत्व—मोक्ष-प्रापक योग्यता तथा विविध निमित्तों के योग
से आत्मा में युक्तियुक्त, आगम-संगत सत् चिन्तन सिद्ध (आविर्भूत)
होता है ।

२. का. श. १४६६

३. चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।

यच्चौर्यैकपरं चेतस्तच्चौर्यानन्द इष्यते ॥ —ज्ञाना. २६.२४

चोरी के उपदेश की बहुलता, (दूसरों को चोरी की शिक्षा,
प्रेरणा देने में अत्यधिक लगन) चोरी के काम में चतुरता, चित्त में
एकमात्र चोरी की आसक्ति चौर्यानन्द नामक रौद्र ध्यान कहा जाता
है ।

४. अस्थानं रूपमन्धस्य यथा सन्निश्चयं प्रति ।

तथैवातीन्द्रियं वस्तु छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥

—यो. बि. ३१५

अन्धे को रूप दिखलाना, उससे तत्सम्बन्धी निर्णय लेना अनु-
पयुक्त है । उसी प्रकार इन्द्रियातीत वस्तु के सम्बन्ध में अल्पज्ञ से
निर्णय लेना, उससे वस्तु का निश्चित स्वरूप जान पाने का प्रयत्न
करना अयुक्तियुक्त है ।

छर्बन—उत्सर्ग ।^१

छेदवान्—निरनुबन्ध योग, जिसमें बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध उत्पन्न होता रहता है ।^२

ज

जगत्पूरण—लोक-व्याप्त ।^३

जनवादावगम—लोक-परंपरा का ज्ञान ।^४

जन्मोपसंक्रम—जन्मजन्मान्तर में भटकाव ।^५

१. का. श. १४६५

२. तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोक-व्यपेक्षया ।

अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवान् परो मतः ॥

सास्त्रवो दीर्घ-संसारस्ततोऽन्योऽनास्त्रवः परः ।

अवस्था-भेद-विषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥

—यो. बि. ३३-३४

विधिपूर्वक सही रूप में योग का अनुसरण तात्त्विक योग है । केवल लोगों को प्रसन्न करने के लिए, उन्हें प्रभावित करने के लिए योग का प्रदर्शन अतात्त्विक योग है । जो लक्ष्य प्राप्त कर लेने तक अच्छिन्न—अभग्न रूप में गतिमान् रहता है, वह सानुबन्ध योग है । जिसमें बीच-बीच में विच्छिन्नता होती रहती है, स्कावट आती रहती है, वह निरनुबन्ध योग है । जो संसार के जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाता है, वह सास्त्र योग है । जो भव-चक्र को रोकता है, वह निरास्त्र योग है ।

३. यो. मा. ३२

४. निययसहावालोयण-जणवायावगम-जोगसुद्धेहि ।

उच्चियत्तं नाऊणं निमित्तओ सय पयद्वेज्जा ॥ —यो. श. ३६

अपने स्वभाव का अवलोकन करते हुए, लोक परम्परा को समझते हुए शुद्ध योग के आधार पर प्रवृत्ति का औचित्य जानकर स्वर, शकुन आदि बाह्य निमित्तों पर गौर करते हुए नियमानुसरण में (योगाभ्यास में) प्रवृत्त होना चाहिए ।

५. यदि प्राप्तं त्वया मूढ ! नृत्वं जन्मोपसंक्रमात् ।

तदा तत्कह येनेयं स्मर-ज्वाला विलीयते ॥ —ज्ञाना. ११.४७

अज्ञ प्राणी ! जन्म-जन्मान्तर में उग्र-कष्टपूर्ण संक्रम—परिभ्रमण करते हुए यदि तुमने मनुष्य-भव प्राप्त कर लिया है तो ऐसा कर, जिससे तुम्हारी काम-ज्वाला विलीन—नष्ट हो जाए ।

जातिप्राय—दूषणाभास । दोष जैसे प्रतीत होते छिद्र खोजना ।^१

जातिस्मर—पूर्वजन्म का ज्ञान ।^२

जिज्ञासा—आठ योग-दृष्टियों में दूसरी दृष्टि तारा में प्रस्फुटित होने वाली सत्त्वज्ञानोन्मुखी तीव्र उत्कण्ठा ।^३

जिन—राग-द्वेष-विजयी, वीतराग, सर्वत्र ।^४

जिलिताशय—कुटिल भाव युक्त ।^५

जीवन्मुक्त—कर्मबन्धरहित ।^६

१. यो. दृ. स. ६१

२. ब्रह्मचर्येण तपसा सद्देवाध्ययनेन च ।

विद्या-मन्त्र-विशेषेण सत्तीर्थसेवनेन च ॥

पित्रोः सम्यगुपस्थानात् ग्लानभैषज्यदानतः ।

देवादिशोधनाच्चैव भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥

—यो. बि. ५७-५८

ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेदादि सत्शास्त्रों का अनुशीलन, विद्या एवं मन्त्र के आराधन, पवित्र तीर्थों के आसेवन, माता-पिता की भली-भांति सेवा-शुश्रूषा, रोग-पीड़ितों को औषधि-दान, देव-स्थान-उपासना-स्थल आदि का शोधन, सम्मार्जन—इन शुभ कर्मों के आचरण से मनुष्य में जाति-स्मरण ज्ञान—पूर्व जन्म का ज्ञान उदित होता है ।

३. तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमद्वयं तथाविधः ।

अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥ —यो. दृ. स. ४१

तारा दृष्टि में बोध-ज्योति मित्रा दृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होती है । वहां योग का दूसरा अंग नियम-सिद्ध हो जाता है । आत्म-कल्याणकारी सत्प्रवृत्तियों के आचरण में अनुद्वेग-उद्वेग का अभाव—आन्तरिक उत्साह बना रहता है । तत्त्वज्ञान में जिज्ञासा रहती है ।

४. ध्या. श. ३

५. इहा कीर्ति समादत्ते मृतो यात्येव दुर्गतिम् ।

माया-प्रपंचदोषेण जनोऽयं जिह्मिताशयः ॥ —ज्ञाना. १६.६४

कुटिल भावयुक्त पुरुष माया-प्रपंच—छल-कपट के कारण इस लोक में अपयश पाता है, मरने पर दुर्गतिगामी होता है ।

६. विषमेऽपि समेक्षी यः स ज्ञानी स च पण्डितः ।

जीवन्मुक्तः स्थिरं ब्रह्म तथः चोक्तं परैरपि ॥

—अ. सा. ५.१५.४२

जो विषम को भी सम-भाव से देखता है, वही वास्तव में ज्ञानवान् है, पंडित है । अन्य दार्शनिकों ने भी उसे जीवन्मुक्त, स्थिर एवं ब्रह्म कहा है ।

जीवाशय—आत्मोपयोग की प्रवृत्ति ।'

जैनाभास—लोकोत्तर मिथ्यात्वयुक्त, परमार्थतः जैनत्व से असंपृक्त होते हुए जैनत्व के प्रदर्शक ।^२

१. संक्षेपरुचिभिः सूत्रात् तन्निरूप्यात्मनिश्चयात् ।

त्रिर्येवाभिमतं कैश्चित् यतो जीवाशयस्त्रिधा ॥

तत्र पुण्याशयः पूर्वः तद्विपक्षोऽशुभाशयः ।

शुद्धोपयोगसंज्ञो यः स तृतीयः प्रकीर्तितः ॥

पुण्याशयवशाज्जातं शुद्धलेख्यावलम्बनात् ।

चिन्तनाद्वस्तु-तत्त्वस्य प्रशस्तं ध्यानमुच्यते ।

पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद् वस्तु-विभ्रमात् ।

कषायाज्जायतेऽजलमसब्ध्यानं शरीरिणाम् ॥

क्षीणे रागादि-सन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।

यः स्वरूपोपलम्भः स्यात् शुद्धाल्पः प्रकीर्तितः ॥ —ज्ञाना. ३.२७-३१

आध्यात्मिक दृष्टि से निरूपण कर कतिपय संक्षेप-रुचि पुरुषों ने तीन प्रकार का ही ध्यान स्वीकार किया है । क्योंकि जीव का आशय—आत्मोपयोग की प्रवृत्ति तीन प्रकार की मानी गई है, जो उस (ध्यान) का आधार है ।

उनमें पहला, पुण्याशय—पुण्यात्मक शुभ आशय (शुभोपयोग) और दूसरा उसका प्रतिपक्षी पापाशय—पापात्मक अशुभ आशय (अशुभोपयोग) है । तीसरा शुद्धोपयोग नामक आशय है ।

शुद्ध लेख्या के अवलम्बन एवं वस्तु-स्वरूप के चिन्तन के परिणामस्वरूप पुण्याशय-प्रसूत ध्यान प्रशस्त कहा जाता है ।

मोह, मिथ्यात्व, वस्तु-विभ्रम—वस्तु-स्वरूप के सन्दर्भ में भ्रान्ति एवं कषाय के परिणाम-स्वरूप पापाशय से प्रसूत ध्यान अप्रशस्त कहा जाता है ।

राग, द्वेष आदि का तांता टूट जाने पर, इनका क्षय हो जाने पर अन्तरात्मा में उल्लास छा जाता है, आत्म-स्वरूप उपलब्ध हो जाता है, तब जो ध्यान निष्पन्न होता है, उसे शुद्ध कहा जाता है ।

२. तदेकान्तेन यः कश्चिद् विरक्तस्यापि कुग्रहः ।

शास्त्रार्थबाधनात् सोऽयं जैनाभासस्य पापकृत् ॥

—अ० सा० २.६.३४

विरक्त होते हुए भी यदि कोई साधक किसी एक ही पक्ष का आग्रह लिये रहे तो वास्तव में वह दुराग्रही है । ऐसा करना शास्त्र-प्रतिपादित सत्य के प्रतिकूल है । इसलिए ऐसा पुरुष जैनाभास है, पापसेवी है ।

ज्ञ—जानने में सक्षम पुरुष ।^१

ज्ञत्व—ज्ञानरूपता ।^२

ज्ञातात्मा—भेदविज्ञाता, अन्तरात्मा ।^३

ज्ञानागर्भता—ज्ञान का अन्तर्वर्तित्व ।^४

१. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके ।

बाह्योऽग्निर्बाह्यो न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः ॥

—यो. बि. ४३२

यदि प्रतिबन्धक—बाधक न रहे तो ज्ञ—जानने में समर्थ पुरुष ज्ञेय—जानने योग्य वस्तु को जानने में कैसे अक्षम रहे ? प्रतिबन्ध-रहित अग्नि जलाने योग्य वस्तु कैसे न जलाए ?

२. तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे संविदस्योपपद्यते ।

एषां चानुभवात् सिद्धा प्रतिप्राण्येव बेहिनाम् ॥

—यो. बि. ४३०

आत्मा को ज्ञान-स्वरूप स्वीकार करने से उसमें संवित्—ज्ञान-मूलक प्रतीति, संवेदना (चिन्मयता) सिद्ध होती है । यह अनुभव से साबित है कि प्राणियों में हर किसी को यत्किञ्चित् संवित् प्राप्त है ही ।

३. विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।

बेहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥

—स. श. ६४

जिसकी शरीर में आत्मत्व-बुद्धि होती है (जो शरीर को आत्मा समझता है), ऐसा अज्ञ पुरुष समस्त शास्त्रों को जानता हुआ भी, रात्रि-पर्यन्त जागता हुआ भी, संसार से मुक्त नहीं होता ।

आत्मज्ञानी बहिर्जगत् के व्यापार में (कार्य-कलाप में) सोया-सा रहता है, अचेत-सा रहता है, पर वह आत्म-भाव में सदा जागृत रहता है, अतः वह जगत् के बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

४. उत्सर्गो वाऽपवादे वा व्यवहारेऽथ निश्चये ।

ज्ञाने कर्मणि वाऽयं चेन्न तदा ज्ञानगर्भता ॥

—अ. भा. २.६.३५

यदि दुराग्रह उत्सर्ग, अपवाद, व्यवहार, निश्चय, ज्ञान या कर्म के संदर्भ में हो तो उस साधक का वैराग्य ज्ञान-गर्भित—ज्ञानात्मक, ज्ञानपूर्ण नहीं (मोहपूर्ण) है ।

ज्ञानधारा—ज्ञानोपयोग का सतत उत्कर्ष भाव ।^१

ज्ञानपाक—ज्ञान द्वारा सूक्ष्म-सूक्ष्मतर अर्थ-ग्रहण की निपुणता, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय की प्रचुरता ।^२

ज्ञान-बीज—बीजाक्षर रूप मन्त्र—हूं ।^३

ज्ञान-भावना—ज्ञान से आविर्भूत आत्मस्वरूपोन्मुखी भावना ।^४

ज्ञानयोग—ज्ञान या चिन्तन की प्रधानता के कारण अर्थ-योग, आलम्बन-योग तथा अनालम्बन-योग को ज्ञानयोग कहा गया है ।^५

१. शुद्धं ज्ञानधारा स्यात् सम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरम् ।

हेतुभेदाद् विचित्रा तु योगधारा प्रवर्तते ॥

—अ. सा. ६.१८.१५०

सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के बाद ज्ञानधारा शुद्ध हो जाती है ।

हेतु-भेद के कारण योगधारा भिन्न-भिन्न रूप में प्रवृत्त होती है ।

२. अभ्यासे सत्क्रियापेक्षा योगिनां चित्तशुद्धये ।

ज्ञानपाके शमस्यैव यत्परैरप्यदः स्मृतम् ॥

—अ. सा. ५.१५.२१

योगाभ्यास के अन्तर्गत योगियों को चैतसिक शुद्धि के लिए सत् क्रिया अपेक्षित होती है । ज्ञान के परिपक्व हो जाने पर केवल शम ही अपेक्षित रहता है । अन्य दार्शनिकों ने भी ऐसा बतलाया है ।

३. मन्त्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।

सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद् व्यवस्थितः ॥

ज्ञान-बीजं जगद्वृन्धं जन्मज्वलनवार्मुचम् ।

पवित्रं मतिमान् ध्यायेदिसं मन्त्रमहेश्वरम् ॥

—ज्ञाना. ३८.१२-१३

मन्त्रराज अक्षर हूं, ऐसा है, मानो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शान्त-मूर्ति, देवाधिदेव स्वयं भगवान् जिनेन्द्रदेव ही मन्त्र-मूर्ति धारण कर अवस्थित हों ।

बुद्धिमान् पुरुष इस ज्ञानबीज, विश्ववन्द्य, भव-रूप अग्नि के लिए मेघसदृश, पवित्र मन्त्रराज का ध्यान करे ।

४. ध्या. श. ३०

५. यो. चि. २

ज्ञानविग्रह—ज्ञानात्मक शरीरमय ।^१

ज्ञानव्यक्ति—अहंता—मैं आत्मस्वरूप हूं, एतन्मूलक, एतत्सदृश ज्ञान का प्रकाश ।^२

ज्ञान-संपात—प्रतिघात—ज्ञानोत्पत्ति में विघ्न ।^३

ज्ञेय-व्याप्ति—ज्ञान के विषय का समग्रता से ग्रहण ।^४

ज्योतिर्मयवपु—ज्ञान-ज्योतिर्मय पिण्ड, ज्ञानात्मक शरीर ।^५

१. अणुप्रचयनिष्पन्नं शरीरमिदमंगिनाम् ।

उपयोगात्मकोऽयक्षः शरीरी ज्ञानविग्रहः ॥

—ज्ञाना. अन्यत्त्व-भावना ४

जीव का शरीर पुद्गल-परमाणुओं के समूह से निर्मित है ।
शरीरी—आत्मा उपयोगात्मक, ज्ञानस्वरूप तथा इन्द्रियातीत है ।

२. मद्यांगेभ्यो मदव्यक्तिः प्रत्येकमसती यथा ।

मिलितेभ्यो हि भूतेभ्यो ज्ञानव्यक्तिस्तथा मता ॥

—अ. सा. ४.१३.११

जिन-जिन पदार्थों के मेल से मदिरा बनती है, उनसे अलग अलग मद—नशे की अभिव्यक्ति नहीं होती । उसी प्रकार पांच महा-भूतों के मिलने पर ही ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है । ऐसा चार्वाक का सिद्धांत है ।

३. अध्या. २.३८

४. भवाम्भोधिसमुत्तारात् कर्मवज्रविभेदतः ।

ज्ञेय-व्याप्तेश्च कात्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ॥

—यो. द्. स. ६६

संसार-सागर से उद्धार, कर्म-वज्र-विभेद—कर्म रूपी हीरे का भेदन (उच्छेदन), ज्ञेय-व्याप्ति—अनन्त-धर्मात्मक पदार्थ रूप ज्ञेय का समग्रतया परिज्ञान सूक्ष्म बोध कहा जाता है ।

५. तनुत्रयाद्भूतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम् ।

न वेत्ति यावदात्मानं क्व तावद्बन्धविच्युतिः ॥

—ज्ञाना. ३२.७४

आत्मा वास्तव में ज्ञान-स्वरूप है पर देही—देह युक्त जीव औदारिक, तैजस तथा कार्मण—इन तीन शरीरों से आवृत (ढका हुआ) है । जब तक वह अपने स्वरूप को नहीं पहचाने, तब तक उसका बन्ध से छुटकारा कहां से हो ?

ज्वलन-पवन—अग्नि-मंडल का पवन ।^१

त

तत्त्वप्रख्यापक—वीतराग-भाषित तत्त्वों के प्रकृष्ट—उत्कृष्ट कथन एवं प्रतीति से युक्त ।^२

तत्त्व-प्रतिपत्ति—तत्त्व का साक्षात्कार, सहज अनुभूति, फलतः तदनुरूप सन्मूलक प्रवृत्ति ।^३

तत्त्वप्रसिद्धि—तत्त्व-प्रतीति ।^४

तत्त्व-भासन—वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन ।^५

१. बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सार्वतश्चतुरंगुलः ।

अत्युष्णो ज्वलनाभिरुच्यः पवनः कीर्तितो बुधैः ॥ —ज्ञाना. २६.२७

जो उदय होते सूर्य की तरह रक्त-वर्ण हो, ऊंचा चले, आवतों—चक्रों से युक्त हो—चक्र काटता हुआ चले, चार अंगुल बाहर आए तथा अत्यन्त उष्ण हो—अग्नि मंडल का वायु विद्वानों ने ऐसा बतलाया है ।

२. ज्ञाना. ६.५

३. ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रगत एव हि ।

तत्त्वप्रतिपत्तियुता सत्प्रवृत्तिपदावहा ॥ —यो. दू. स. १७०

प्रभा दृष्टि में स्थित योगी प्रायः ध्यान-निरत रहता है । इसमें योग का सातवां अंग ध्यान सिद्ध हो जाता है । राग-द्वेष तथा मोह रूप त्रिदोष जनित भावरोग यहाँ उत्पन्न नहीं होते । इस दृष्टि में योगी को तत्त्वानुभव प्राप्त होता है । योगी का सहज रूप में सत्प्रवृत्तियों की ओर झुकाव रहता है ।

४. अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।

प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥ —यो. बि. ६५

प्रेक्षावान्—प्रेक्षण—सूक्ष्म ईक्षण, चिन्तन, पर्यालोचन में समर्थ, विवेकी पुरुष को तत्त्व-साक्षात्कार, तत्त्वाभिव्यक्ति हेतु योगाभ्यास में महान् प्रयत्न करना चाहिए । वाद-ग्रन्थों—खंडन-मंडन मूलक ग्रन्थों से तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता ।

५. तन्मयचित्तस्स तहोवओगओ तत्तभासणं होइ ।

एयं एत्थ पहाणं अंगं खलु इट्ठसिद्धीए । —यो. श. ६५

मननीय विषय में चैतसिक तन्मयता एवं उपयोग द्वारा तत्त्व प्रतभासित होता है—ज्ञेय, ज्ञेय पदार्थ का सत्य-स्वरूप प्रकाशित होता है । सत्य-प्रतीति ही योग-साधना में इष्ट-सिद्धि का हेतु है ।

तत्त्वभू—पिण्डस्थ ध्येय की पांच धारणाओं में अन्तिम धारणा, जिसमें रस, रक्त प्रभृति सप्त धातुओं से रहित, पूर्णचन्द्र के सदृश विशद द्युतिमय, सर्वज्ञवत् शुद्ध, बुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन का एक विशेष क्रम रहता है ।^१

तत्त्वरुचि—श्रीतराग-भाषित तत्त्वों में रुचि, श्रद्धा, प्रीति ।^२

तत्त्वव्यवसाय—वस्तुस्वरूप का विशेष रूप से निश्चय ।^३

तत्त्व-शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की उन्कण्टा ।^४

तत्त्व-श्रुति—तात्त्विक विषयों का श्रवण ।^५

१. सप्तधातुचिनाभूत पूर्णेन्दुविशदद्युतिम् ।

सर्वज्ञकल्पमात्मानं शुद्धबुद्धिःस्मरेत्ततः ॥

ततः सिंहासनाखण्डं सर्वातिशयभासुरम् ।

विध्वस्ताशेषकर्माणं कल्याणमहिमान्वितम् ॥

स्वांगगर्भं निराकारं संस्मरेदिति तत्त्वभूः ।

साम्यास इति पिण्डस्थे योगी शिवमुखं भजेत् ।

—यो. शा. ७.२३-२५

पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी तथा वारुणी—इन चार धारणाओं को आत्मसात् करने के पश्चात् शुद्धबुद्धि योगी रस, रक्त आदि सप्त धातुरहित, पूर्णचन्द्र के तुल्य उज्ज्वल द्युतियुक्त, सर्वज्ञ के सदृश विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करे ।

२. तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वप्रख्यापकं भवेज्ज्ञानम् ।

पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्र्यमुक्तं जिनेन्द्रेण ॥

—ज्ञाना. ६.५

जिनेश्वर देव ने तत्त्व-श्रद्धा को सम्यक्त्व, तत्त्वों के प्रख्यापन—प्रकृष्ट ज्ञान को सम्यक्ज्ञान तथा पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्ति को सम्यक् चारित्र्य कहा है ।

३. अ. सा. १.१४६

४. यो. दू. स. ४६

५. क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः ।

बीजं प्ररोहमाधत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ॥

क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः ।

मधुरोदयकयोगेन समा तत्त्व-श्रुतिस्तथा ॥

—यो. दू. स. ६१-६२

खारे पानी के त्याग और मीठे पानी के संयोग से जैसे बाज अंकुरित होता है, उसी तरह तत्त्व-ज्ञान का श्रवण करने से साधक के

तत्त्व-समावेश—तत्त्व—यथार्थ बोध—सद्ज्ञान में सम्यक्—आत्मस्फूर्ति तथा जागृतिपूर्ण प्रवेश ।^१

तत्त्व-सिद्धि—योगसम्बद्ध तत्त्व-ज्ञान की अभिव्यक्ति ।^२

तत्त्वसंवेदन—वस्तु के यथार्थ-स्वरूप की सम्यक् अनुभूति ।^३

मन में बोध-बीज अंकुरित हो जाता है ।

भव-योग—समस्त सांसारिक संयोग, भोग्य पदार्थ आदि खारे पानी के समान हैं तथा तत्त्व-श्रुति—तत्त्वोपदेश सुनना मीठे पानी के समान है ।

१. मीमांसाभावतो नित्यं न मोहोऽस्यां यतो भवेत् ।

अतस्तत्त्वसमावेशात् सदैव हि हितोदयः ॥

—यो. दू. स. १६६

कान्ता दृष्टि में अवस्थित योगी अनवरत तत्त्व-मीमांसा—तत्त्वानुशीलन में संलग्न रहता है । इसलिए वह मोहाभिभूत नहीं होता । तत्त्व-ज्ञान उपलब्ध होने के कारण वह सदा अपने हित—श्रेयस् की दिशा में बढ़ता जाता है ।

२. नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं योगीन्द्र-वन्दितम् ।

योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि तत्त्व-सिद्धयै महोदयम् ॥

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।

सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थास्तद्विदः प्रति ॥

—यो. बि. १-२

आदि-अन्त-रहित, योगीश्वर-वन्दित, शिव—कल्याणमय पर-मात्मा को नमस्कार कर तटस्थ वृत्तियुक्त—पक्षपातशून्य योगवेत्ताओं एवं योग का विशेष ज्ञान चाहने वालों के लिए तत्त्वतः सभी यौगिक परंपराओं के शास्त्रों से अविरोध—विरोधरहित, समन्वययुक्त सन्नीति-स्थापक—योगोन्मुख उत्तम नैतिक मार्ग स्थापित करने वाले योगबिन्दु नामक ग्रन्थ की तत्त्व-प्रकाशन हेतु रचना करूंगा ।

३. शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।

सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥

—यो. बि. १८६

अपुनर्बन्धकावस्था में शान्त, उन्नत, सूक्ष्म ऊहापोह—चिन्तन—विमर्शयुक्त एवं वस्तु-तत्त्व का संवेदक—परिज्ञापक अनुभूतिमय शुद्ध अनुष्ठान साधित—क्रियान्वित होता है ।

तत्त्वसंवेदनानुग—आत्मा, मोक्ष आदि तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान से अनुगत ।^१

तत्त्वोपनिषद्—परमार्थ या ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान के रहस्य का उपपादन ।^१

१. विषयात्मानुबन्धेहि त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम् ।

ब्रुवते कर्म तत्राद्यं मुक्त्यर्थं पतनाद्यपि ॥

अज्ञानिनां द्वितीयं तु लोक-दृष्ट्या यमादिकम् ।

तृतीयं शान्त-वृत्त्या तत्त्व-संवेदनानुगम् ॥

आद्यान्नाज्ञान-बाहुल्यात् मोक्षक-बाधक-बाधनम् ।

सद्भावाशय-लेशेनोचितं जन्म परे जगुः ॥

द्वितीयाद् दोष-हानिः स्यात् का चिन्मण्डूकचूर्णवत् ।

आत्यन्तिकी तृतीया तु गुरु लाघव-चिन्तया ॥

—अ. सा. १.२.२२.२५

विषय, आत्मा तथा अनुबन्ध के रूप में कर्म तीन प्रकार का है ।
ये उत्तरोत्तर शुद्ध हैं ।

मुक्ति के लिए भृगुपात—पर्वत से कूदना, अग्नि में प्रविष्ट होना, जल-समाधि लेना—ये प्रथम कर्म के अंतर्गत माने जाते हैं ।

लौकिक दृष्टि से (मात्र लौकिक प्रतिष्ठा या कीर्ति हेतु) यम, नियम आदि का पालन द्वितीय कर्म है ।

शांत वृत्ति से तत्त्व-ज्ञान के अनुसरण से युक्त—तत्त्वज्ञान के अनुरूप, साध्य के साथ संगत कर्म तृतीय कर्म है ।

अज्ञान के आधिक्य के कारण—अधिकांशतः अज्ञानमूलक होने के कारण पहले द्वारा मोक्ष के बाधक राग, द्वेष आदि का बाधन—अवरोध नहीं होता ।

इसके संबंध में कुछ आचार्यों का कथन है कि थोड़ा ही सही, सद्भावमूलक अभिप्राय तो वहां है, अतः वह उस कर्म के परिणाम-स्वरूप आगे उत्तम स्थान में जन्म लेता है ।

दूसरे द्वारा मंडूक-चूर्ण के समान कुछ दोष मिटते हैं ।

मेढक के शरीर का चूर्ण (बुरादा) जमीन पर फेंक दिये जाने पर मिट्टी में मिल जाता है, पर वर्षा होने पर उस चूर्ण के कणों से अनेक मेढक उत्पन्न हो जाते हैं—ऐसी मान्यता है ।

तीसरा गुरु लघु—उच्च अनुच्च (श्रेष्ठ-श्रेष्ठ, उत्तम-अधम आदि) के विचार—विवेकपूर्ण चिन्तन के कारण दोषों के आत्यन्तिक नाश का हेतु है ।

२. प्रियावाणीवीणाशयनतनुसंवाधनसुखै,

भवोज्यं पीयूषैर्घटित इव पूर्वं मतिरभूत् ।

तथाता—सदैव एक जैसे विशुद्ध, सहज स्वरूप में अवस्थित परम तत्त्व ।^१

तद्योगजन्मसंधात—अग्रिम जन्म में ऐसी स्थितियां प्राप्त होना, जिनके फल-स्वरूप साधक योग-साधना से दूर ले जाने वाले कारणों को मिटा पाने में सक्षम होता है ।^२

तद्धेतु—योगबिन्दु में निरूपित अनुष्ठान के पांच भेदों में चौथा भेद । उपासना, व्रत आदि के प्रति जहां साधक में सतत अनुराग बना रहता है, जिससे प्रेरित हो वह सदनुष्ठान में निरत रहता है, वह तद्धेतु अनुष्ठान है ।^३

तनुत्रय—औदारिक, तैजस एवं कार्मण शरीर ।^४

अकस्मादस्माकं परिकलिततत्त्वोपनिषदा-
मिदानीमेतस्मिन्न रतिरपि तु स्वात्मनिरतिः ॥

—अ. सा. १.४.२३

हमारी पहले यह मान्यता थी, यह संसार प्रेयसी, उत्तकी मधुर वाणी, वीणा—निनाद, शयन, शरीर-संवाहन (हाथ-पैर आदि दबाना) प्रभृति सुखमय अमृत से निमित्त है, किन्तु अकस्मात् आत्म-तत्त्व का उपनिषद्—गूढ रहस्य प्राप्त हो जाने के कारण अब हमारा संसार में कोई अनुराग नहीं रहा है । हमारा अनुराग तो अब एक मात्र आत्म-तत्त्व में है ।

१. सदा शिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च ।

शब्द्वैस्तदुच्यतेऽन्वथदिकमेवैवमादितः ॥

—यो. दू. स. १३०

वह परम तत्त्व सदाशिव, परं ब्रह्म, सिद्धात्मा एवं तथता आदि शब्दों द्वारा अभिहित किया जाता है, पर अन्वर्थ—तात्पर्य की दृष्टि से वह एक ही है ।

२. यो. बि. २१५

३. यो. बि. १५५

४. ज्ञाना. ३२.७४

तन्त्र—अध्यात्मयोग से सम्बद्ध शास्त्र । सांख्यदर्शन एवं योगदर्शन में योग संबंधी ग्रन्थों के लिए 'तन्त्र' शब्द व्यवहृत होता रहा है । उदाहरणार्थ, षष्टितन्त्र सांख्यदर्शन का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ था, जो अनुपलब्ध है, जिसका ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उल्लेख किया है । सांख्य एवं योग—दोनों दर्शन अत्यन्त सम्बद्ध हैं । वास्तव में दोनों मिलकर परिपूर्ण दर्शन का रूप लेते हैं, जहां क्रमशः सिद्धांत-पक्ष तथा साधना-पक्ष—दोनों समाहित होते हैं ।

तन्त्रज्ञ—योगशास्त्रवेत्ता ।^१

१. अवेद्य-संवेद्य-पदमपदं परमार्थतः ।

पदं तु वेद्य-संवेद्य-पदमेव हि योगिनाम् ॥
वेद्यं संवेद्यते यस्मिन् अपायादिनिबन्धनम् ।
तथाप्रवृत्तिबुद्ध्याऽपि स्त्र्याद्यागमविशुद्धया ॥
तत्पदं साधवस्थानाद् भिन्नग्रन्थादिलक्षणम् ।
अन्वर्थ-योगतस्तन्त्रे वेद्य-संवेद्यमुच्यते ॥

—यो. दू. स. ७२-७४

अवेद्य-संवेद्य-पद वास्तव में अपद है—अध्यात्म-विकास की यात्रा में पैर टिकाने का स्थान—प्रेरक या उपयोगी स्थान नहीं है । योग-साधकों के लिए वेद्य-संवेद्य पद ही वास्तव में पद है ।

वहां अपाय—आत्मोन्नति में विघ्नकारक स्त्री आदि वेद्य—वेदन या अनुभव करने योग्य पदार्थ आगम-विशुद्ध—शास्त्रानुशीलन से परिष्कृत, प्रवृत्ति-वर्जित बुद्धि द्वारा अनुभूत किये जाते हैं । (वहां रसमय, रागमय भाव नहीं रहता ।)

वेद्य-संवेद्य-पद जब सम्यक् अवस्थित—जीवन-व्याप्त होता है, कर्म-ग्रन्थि-भेद, देशविरति आदि उसके स्वरूप को लक्षित कराते हैं । तन्त्र-योग सम्बन्धी शास्त्रों में उसे उस (वेद्य + संवेद्य) के शब्दानुगामी (व्युत्पत्तिपरक) अर्थ के अनुरूप ही इस नाम से अभिहित किया गया है ।

२. पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञं गुरुदेवादिपूजनम् ।

सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता ॥

—यो. बि. १०६

गुरु, देव आदि का पूजन—आराधन, सदाचार का पालन, तपश्चरण, मुक्ति से अद्वेष—मोक्ष का विरोध न करना, उस ओर अरुचि-प्रदर्शन न करना—शास्त्रवेत्ताओं ने इन्हें पूर्वसेवा कहा है ।

तन्मयत्व—आत्मस्वरूप में लय ।^१

तन्मात्रकविषयग्रह—चैतसिक स्थिरता के अनुरूप तावन्मात्र ग्राह्य-ग्रहण ।^१

२. योगी चाभ्यासयोगेन तन्मयत्वमुपागतः ।

सर्वज्ञीभूतमात्मानमवलोकयति स्फुटम् ॥

—यो. श. ६.११

रूपस्थ ध्यान के अभ्यास द्वारा तन्मयता-प्राप्त योगी अपने आपका स्पष्टतः सर्वज्ञ के रूप में अवलोकन करता है । (वह वीतराग-भाव में रमण करता है, वीतराग-भाव का अनुभव करता है) ।

२. इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च ।

चेतश्चतुः प्रकारं तज्ज्ञ-चमत्कारकारि भवेत् ॥

विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायातं च किमपि सानन्दम् ।

प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्प-विषयग्रहं तत् स्यात् ॥

श्लिष्टं स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परानन्दम् ।

तन्मात्रक-विषयग्रहमुभयमपि बुधैस्तदाम्नातम् ॥

—यो. शा. १२.२-४

मन चार प्रकार का है—१. विक्षिप्त मन, २. यातायात मन, ३. श्लिष्ट मन तथा ४. सुलीन मन ।

चित्त-व्यापार, चैतसिक प्रक्रिया को जानने वालों के लिए ये भेद बड़े चामत्कारिक हैं ।

विक्षिप्त मन चल-चंचल होता है । वह यत्र-तत्र भटकता रहता है ।

यातायात मन कुछ आनन्दपूर्ण होता है । वह यात+आयात करता है—कभी बाहर जाता है, कभी भीतर आता है ।

प्रथम अभ्यास में मन की ये दोनों स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं । मन के ये दोनों भेद चैतसिक विकल्पानुरूप बाह्य विषयों को ग्रहण भी करते हैं ।

श्लिष्ट चित्त स्थिर एवं आनन्दपूर्ण होता है । जब वह अत्यन्त निश्चल—स्थिर होने से परम आनन्दमयी स्थिति प्राप्त कर लेता है, तब सुलीन कहा जाता है ।

ये दोनों प्रकार के चित्त अपनी स्थिरता के अनुरूप तावन्मात्र ग्राह्य-ग्रहण करते हैं ।

तमस्—ज्योति का आवरक, तमोगुण ।^१

तमोप्रस्थिविभेद—अज्ञान के अंधकार से घुली हुई, उलझी हुई, गूढ़, कठोर कर्ममय गांठ का टूटना, खुलना ।^१

तात्त्विक—आचार्य हरिभद्र द्वारा योगदृष्टिसंप्रचय में विवेचित इच्छा-योग, शास्त्र-योग तथा सामर्थ्य-योग—में अन्तिम सामर्थ्य-योग के दो भेद हैं—धर्म-संन्यास-सामर्थ्य-योग तथा योग-संन्यास-सामर्थ्य-योग । धर्म-संन्यास-सामर्थ्य-योग को आचार्य ने तात्त्विक कहा है, जहां साधक क्षायोपशमिक धर्मों से ऊंचा उठ जाता है । यह द्वितीय अपूर्वकरण में सिद्ध होता है, जहां साधक क्षपकश्रेणी पर आरोहण करता है ।^१

१. सत्त्व रजस्तमश्चेति शरीरान्तर्गुणत्रयम् ।

रजस्तमश्च संत्यज्य सत्त्वमेकं समाश्रयेत् ॥

—यो. प्र. ६८

सत्त्व, रजस् तथा तमस्—ये शरीरान्तर्बर्ती तीन गुण हैं । इनमें से रजस् एवं तमस् का परित्यागकर सत्त्वगुण का आश्रय लेना चाहिए (अवलम्बन करना चाहिए) ।

२. बालघूलिगृहक्रीडातुल्याऽस्यां भाति धीमताम् ।

तमोप्रस्थिविभेदेन भवचेष्टाऽखिलैव हि ॥

—यो. दृ. स. १४५

स्थिरा दृष्टि में साधक के मिथ्यात्व तमोमयी ग्रंथि का विभेद हो जाता है, उसे सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है ।

ऐसे उद्बुद्ध प्रज्ञ साधकों को समस्त सांसारिक चेष्टाएं—लौकिक व्यवहार, कार्य-कलाप बच्चों द्वारा खेल में बनाये गये चरोंदों जैसे प्रतीत होते हैं ।

३. द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्यास-संज्ञितः ।

क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु ॥

द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।

आयोप्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विधः ॥

—यो. दृ. स. ६-१०

सामर्थ्य-योग के दो भेद हैं—धर्म-संन्यास तथा योग-संन्यास । क्षायोपशम से आविर्भूत भाव धर्म हैं एवं शारीरिक, मानसिक, वाचिक कर्म योग हैं ।

धर्म-संन्यास-सामर्थ्य-योग द्वितीय अपूर्वकरण में सिद्ध होता है । ग्रंथि-भेद रूप प्रथम अपूर्वकरण के पश्चात् क्षपक-श्रेणी आरोहण के समय द्वितीय अपूर्वकरण होता है ।

वेदनीय आदि कर्मों की आयुष्य कर्म की तुलना से अधिक

तारा—योगदृष्टिसमुच्चय में वर्णित आठ योग-दृष्टियों में दूसरी दृष्टि । इसमें बोध-ज्योति मित्रा—प्रथम दृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट उद्भासमय होती है । अतः इसकी आभा तारे से उपमित की गई है । नामकरण का आधार यही प्रतीत होता है ।^१

तारा दृष्टि में अष्टांग योग का द्वितीय अंग नियम सिद्ध हो जाता है ।

तीव्र भाव — उत्कट कलुषित भावना ।^२

तौर्यत्रिक—नृत्य देखना, वाद्य व गीत सुनना ।^३

स्थिति देखकर केवली कर्मों का सामंजस्य करने हेतु उनकी उदीरणा करते हैं । वह समुद्घात के रूप में होती है । यह आयोज्यकरण है । आयोज्यकरण से आगे योग-संन्यास सिद्ध होता है ।

१. यो. दृ. स. ४१

२. पापं न तिव्वभावा कुणइ न बहुमन्नई भवं घोरं ।

उच्चयट्ठइ च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणब्धो त्ति ॥

—यो. श. १३

जो तीव्र भाव—उत्कट कालुष्यपूर्ण भावपूर्वक कर्म नहीं करता, जो इस घोर, दारुण दुःखमय संसार को अधिक मान नहीं देता—उसमें संसक्त, लिप्त नहीं रहता, जो लौकिक, पारलौकिक कार्यों में सर्वत्र उचित स्थिति का निर्वाह करता है, वह अपुनर्बन्धक है ।

३. पर्यन्तं विरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।

योषित्संगाद् विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥

आद्यं शरीर-संस्कारो द्वितीयं वृष्य-सेवनम् ।

तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात् संसर्गस्तुर्यमिष्यते ॥

योषिद्विषयसंकल्पः पंचमं परिकीर्तितम् ।

तदंगवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥

पूर्वानुभोग-संभोग-स्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।

नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्ति-मोक्षणम् ॥

किपाकफलसंभोगसन्निभं तद्धि मैथुनम् ।

आपातमात्ररम्यं स्याद् विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥

—ज्ञाना. ११.६-१०

मैथुन—काम-सेवन ब्रह्मचर्य का प्रतिपक्षी है । वह दश प्रकार का है । स्त्रियों से विरक्त—अनासक्त ज्ञानी पुरुष को उनका परित्याग (वर्जन) करना चाहिए ।

शरीर-संस्कार—शृंगार, पुष्टिकारक स्निग्ध रस-सेवन, कामोद्-

त्यजन—उत्सर्ग ।^१

त्रस—त्रस नाम-कर्म के उदय से निष्पन्न शरीर युक्त, गतिशील जीव, जो सुख-प्रवृत्ति तथा दुःख-निवृत्ति हेतु चलते-फिरते हैं ।^२

त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ एवं काम ।^३

त्रिसंज्ञा—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा तथा मैथुनसंज्ञा—जिजीविषा, सुरक्षा एवं विषयमुक्तिमूलक अन्तःस्थित तीन प्रकार के संपन्दन ।^४

भावक गीत, नृत्य, वाद्य आदि का श्रवण, दर्शन, स्त्री-संसर्ग, स्त्री सम्बन्धी विषय का संकल्प, स्त्री के अंगों का वीक्षण, स्त्री को देखने आदि का संस्कार—मनोभाव, पूर्व सेवित भोग-संभोग का स्मरण, भविष्य के लिए भोग का चिन्तन तथा शुक्र-क्षरण—क्रमशः ये दश मैथुन-भेद हैं ।

मैथुन किपाकफल के सदृश है, जो मात्र आपात-रमणीय—केवल देखने, सूँघने एवं खाने में प्रिय होता है, पर जिसका परिणाम अत्यन्त भयंकर—दारुण दुःखप्रद होता है ।

१. का. श. १४६५

२. सर्वैः सर्वेऽपि सम्बन्धाः संप्राप्ता देहधारिभिः ।

अनादिकालसंभ्रान्तैस्त्रसस्थावरयोनिषु ॥

—ज्ञाना. २ संसार-भावना

इस जगत् में अनादि काल से त्रस तथा स्थावर जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए देहधारियों (जीवों) ने सब जीवों के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध संप्राप्त किये हैं ।

३. विनयश्रुतशीलानां त्रिवर्गस्य च घातकः ।

विवेकलोचनं लुम्पन् मानोऽन्धकरणो नृणाम् ॥

—यो. शा. ४.१२

मान, विनय, श्रुत—शास्त्र-ज्ञान, शील—सदाचार तथा त्रिवर्ग-धर्म, अर्थ, मोक्ष का घातक—विध्वंसक है । वह मनुष्यों के विवेकरूपी नेत्रों को नष्ट कर उन्हें अन्ध बना देता है ।

४. भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ।

केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपंक्तिकृतादराः ॥

—यो. बि. ८६

चरम-पुद्गल-परावर्त के अन्तर्वर्ती प्राणियों के अतिरिक्त प्रायः अन्य जन आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा तथा मैथुन-संज्ञा में लिप्त रहते हैं, दुःखित रहते हैं । सांसारिक भोगोपभोग का वे आदर करते हैं—उसे महत्त्व देते हैं । ऐसे जीव भवाभिनन्दी कहलाते हैं ।

त्रैविद्य—धर्म-सिद्धान्त, न्याय तथा व्याकरण ।^१

द

दंभ—मायाविता ।^२

दण्डासन—भूमि पर बैठकर अपने पैरों को इस प्रकार फैलाना कि अंगुलियां, गुल्फ तथा जंघाएं भूमि के साथ लगी रहें । यह दण्डासन है ।^३

दर्शन—सत् श्रद्धोन्मुख बोध ।^४

दर्शन भावना—सन्निष्ठा से निष्पन्न आत्मोन्मुखी भावना ।^५

दहनवायु—उदीयमान सूर्य के समान, अरुण आभायुक्त, अत्यन्त उष्ण, वातूल की ज्यों ऊर्ध्व-वहनशील, अग्नितत्त्वप्रधान योगाभिमत पवन ।^६

१. जयन्ति जिनसेनस्य वाचस्त्रैविद्यवन्दिताः ।

योगिभिर्यत् समासाद्य स्वलितं नात्मनिश्चये ॥ —ज्ञाना. १.१६

त्रैविद्य—धर्म-सिद्धान्त, व्याकरण तथा न्याय—इन तीन विद्याओं के पारगामी विद्वानों द्वारा वन्दित—सम्मानित, सत्कृत आचार्य जिनसेन की वाणी जयशील है, जिसका आलम्बन लेकर योगी आत्मस्वरूप का निश्चय करने में स्वलित नहीं होते—लड़खड़ाते नहीं ।

२. दंभो मुक्तितावह्निर्दंभो राहुः क्रियाविधौ ।

दौर्भाग्यकारणं दंभो दंभोऽध्यात्ममुखार्गला ॥ —अ. सा. १.३,१

दंभ मुक्ति रूपी लता को जलाने में अग्नि के सदृश है । दंभ सत् क्रिया रूपी चन्द्र के लिए राहु है । दंभ दुर्भाग्य का कारण है । वह आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति में अर्गला (आगल) की तरह बाधक है ।

३. श्लिष्टांगुली श्लिष्टगुल्फौ भूश्लिष्टोरु प्रसारयेत् ।

यत्रोपविश्य पादौ तद्दण्डासनमुदीरितम् ॥ —यो. शा. ४.१३१

भूमि पर बैठकर पैरों का इस प्रकार प्रसार करना कि (पैरों की) अंगुलियां, टखने और जंघाएं भूमि के साथ संलग्न रहें, दंडासन कहा जाता है ।

४. यो. द. स. २१

५. ध्या. श. ३०

६. बालादित्यसमज्योतिरत्युष्णश्चतुरंगुलः ।

आवर्तवान् दहन्नुर्ध्वं पवनो दहनः स्मृतः ॥

—यो. शा. ५.५१

दहन-वायु (अग्नि-तत्त्व) उगते हुए सूर्य के सदृश रक्तवर्णयुक्त, अत्यन्त गर्म, आवर्तयुक्त (बवंडर सहित) चार अंगुल ऊंचा बहता है ।

दाक्षिण्याविषय—चातुर्य-प्रदर्शन के उद्देश्य बिना ।^१

दानवी—दानववत् उग्र पापभावना ।^२

दीप्रा—योगदृष्टिसमुच्चय में वर्णित आठ योग-दृष्टियों में चौथी दृष्टि । तीसरी दृष्टि बला में बोध-ज्योति पहले से कुछ बलवत्तर हो जाती है, वहां इसमें वह दीप्र—दीप्तिमय—तेजोमय हो जाती है, जिससे साधक का मन योग-साधना में उत्तरोत्तर अग्रसर होने हेतु उद्वेलित रहता है, उधर से हटता नहीं । अष्टांग योग का चौथा अंग प्राणायाम यहां सिद्ध हो जाता है ।^३

दीर्घसंसार—जन्म-मरण के चक्र की वृद्धि ।^४

दुरधविघटन—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अंतराय रूप धाति कर्मों का क्षय ।^५

दुर्लक्ष्य—जो चर्मचक्षुओं से देखा न जा सके ।^६

दुष्टप्रणिधान—मन, वचन तथा शरीर की दूषित प्रवृत्ति ।^७

१. वृषभान् दमय क्षेत्रं कृष षण्दय वाजिनः ।

दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न युज्यते ॥ —यो. शा. ३.७६

“बैलों का दमन करो, खेत जोतो, घोड़ों को बधिया करो,” बिना प्रयोजन ऐसा पापपूर्ण उपदेश देना उपयुक्त (उचित) नहीं है ।

२. ज्ञाना. ४.४१

३. प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।

तत्त्व-श्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविर्वाजिता ॥ —यो. दृ. स. ५७

दीप्रा दृष्टि में योग का चौथा अंग प्राणायाम सिद्ध होता है । इस दृष्टि में स्थित साधक का चित्त योग से उठता नहीं, दूर नहीं होता । उसे तत्त्व-श्रवण के सुअवसर प्राप्त होते रहते हैं । किन्तु यहां सूक्ष्म बोध अप्राप्त रहता है (जिसे साधक आगे चलकर प्राप्त करता है) ।

४. यो. बि. ३४

५. यो. मा. २७

६. यो. प्र. ३१

७. कायवाङ्मनसां दुष्ट-प्रणिधानमनादरः ।

स्मृत्यनुपस्थापनंच स्मृताः सामायिकव्रते ॥

—यो. शा. ३.११५

सामायिक के समय १. शरीर की दोषयुक्त प्रवृत्ति, २. वचन की दोषयुक्त प्रवृत्ति, ३. मन की दोषयुक्त प्रवृत्ति, ४. सामायिक के प्रति अनादर तथा ५. सामायिक लेने व पारने आदि के समय का स्मरण न रहना—ये सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं ।

- दृढात्मबुद्धि—देह आदि में दृढतापूर्वक आत्मबुद्धि रखने वाला ।^१
 दृढावेश—प्रबल अभिनिवेश—दुराग्रह ।^२
 दृष्टबाधा—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा प्रतीति न हो सकना ।^३
 दृष्टात्मा—आत्मस्वरूप को सम्यक् रूप में देखने वाला, समझने वाला ।^४
 दृष्टिवैकल्य—दृष्टि की विकलता, विपरीत तत्त्वश्रद्धान, मिथ्यात्व ।^५

१. दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पद्यन्नाशमात्मनः ।

मित्रादिभिवियोगं च विभेति मरणाद् भृशम् ॥

—स. श. ७६

देह में आत्म-बुद्धि रखनेवाला देह के नाश को आत्मा का नाश मानता है । मृत्यु होने पर मित्रादि प्रियजनों से वियोग हो जायेगा, यह सोचकर वह निश्चितरूप में मृत्यु से भयभीत रहता है ।

२. भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलंघनम् ।

भायोदकदृढावेशस्तेन यातीह कः पथा ॥

—यो. दू. स. १६७

जो भोगों को यथार्थ, वास्तविक मानता है, वह संसार-सागर को पार नहीं कर सकता । जो मृग-मरीचिका को जल मानने का दृढ आग्रह लिये रहता है, वह किस मार्ग से उसके पार जाए ?

३. दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम् ।

असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं बाध्यसूचकम् ॥

—यो. बि. २४

दृष्ट—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा प्रतीतियोग्य तत्त्व भी जो शास्त्र सिद्ध नहीं कर सकते, उन शास्त्रों के आधार पर अदृष्ट—परोक्ष में प्रवृत्त होना, प्रवृत्त व्यक्तियों की अन्ध श्रद्धा, बाध्यता उस ओर आग्रहपूर्ण दासता का परिचायक है ।

४. स. श. ७३

५. दुर्दृशामपि न ध्यान-सिद्धिः स्वप्नेऽपि जायते ।

गृह्णतां दृष्टिवैकल्याद् वस्तुजातं यदृच्छया ॥

—ज्ञाना. ४.१८

दृष्टि-वैकल्प—दृष्टि की विकलता—विपरीतता के कारण पदार्थों को अपनी इच्छा के अनुरूप ग्रहण करने वाले (वस्तु-स्वरूप को अपनी विपरीत दृष्टि के अनुसार आंकने वाले) मिथ्यादृष्टि जनों को स्वप्न में भी ध्यान-सिद्धि नहीं होती ।

दृष्टेऽबाधित—दृष्ट या अनुभूत स्वरूप, परिणाम आदि की उपेक्षा से अबाधित, यथावत् रूप में, स्वरूप, परिणाम आदि की उपलब्धि ।^१

देशविरति—देश का तात्पर्य आंशिक है तथा विरति का संयम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का सापवाद स्वीकार । स्वीकार की दो कोटियां हैं—सम्पूर्ण रूप तथा आंशिक रूप । जो सम्पूर्ण रूप में संयम को स्वीकार करते हैं, वे संयमी, साधु या मुनि कहे जाते हैं । उनका त्याग सर्वविरति रूप होता है । जैन दर्शन में गुण स्थानों के रूप में आत्मा का जो विकास-क्रम बताया गया है, उसके अनुसार पूर्ण संयमी का छठा गुण-स्थान है । जो संयम को आंशिक रूप में स्वीकार करते हैं, उनका पांचवां गुणस्थान होता है । उन द्वारा किया गया असद्वर्जन, त्याग या व्रत-स्वीकार देशविरति कहा जाता है ।^१

देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि दोषों के अपगत होने से देह की जड़ता का नाश ।^१

देहात्मदृष्टि—शरीर में आत्मभाव मानने वाला, बहिरात्मा ।^१

१. वचनादस्य संसिद्धेरेतदप्येवमेवहि ।

दृष्टेऽबाधितं तस्मादेतन्मृग्यं हितैषिणा ॥

—यो. बि. २३

आगम-वचन या योग-सिद्ध पुरुषों के वचन द्वारा योग साध्य-सिद्ध है । वह यथार्थतः वैसा ही है, जैसा इन द्वारा प्रतिपादित हुआ है । वह दृष्ट एवं इष्ट द्वारा बाधित नहीं है । (वह अनुभवगम्य है, उससे अभीष्ट बाधित नहीं होता ।) आत्म-कन्याण चाहने वाले पुरुष को चाहिए कि वह उसकी मार्गणा—गवेषणा करे ।

२. यो. बि. १३

३. का. श. १४७६

४. विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।

देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥

—स. श. ६४

जिसकी देह में आत्म-बुद्धि है—जो शरीर को आत्मा समझता है, वह समग्र शास्त्रों को जानता हुआ भी, जागृत रहता हुआ, (सांसारिकता में रचा-पचा होने के कारण रात भर आर्त-रौद्र ध्यान में रहता हुआ, जागता हुआ) भी संसार के बन्धन से नहीं छूटता । पर, जो आत्म-ज्ञानयुक्त है, वह जागतिक व्यापार में सुप्त या उन्मत्तवत्—चेतनारहित की ज्यों रहता हुआ भी भव-बंधन से मुक्त हो जाता है ।

देहावस्था—आसन आदि के रूप में अभ्यस्त शरीर-स्थिति ।^१

दोषायेक्षा—अपने दोषों तथा दुर्बलताओं का सूक्ष्मता से अवलोकन ।^२

दोषित्य—बहुत बड़ा पाप ।^३

द्रव्यकरण—बिना मन संपादित क्रिया ।^४

द्रव्यग—द्रव्यगामी, द्रव्याश्रित, द्रव्य रूप में अवस्थित ।^५

द्रव्यपुण्य—शुभ परिणामों के आश्रय से बंधप्राप्त कर्म-पुद्गल ।^६

द्रव्यसंवर—कर्म-पुद्गलों के आगमन का अवरोध ।^७

द्रव्याभिग्रह—उपयुक्त पात्र को हिंसादि-दोष-वर्जित भोजन, वस्त्र, औषध, जीवनोपयोगी विहित साधन, सामग्री आदि प्रदान करना, जिससे उसका साधनामय जीवन, संयम-यात्रा निर्बाध चलती रहे ।^८

द्वन्द्वसहिष्णुता—प्रिय से वियोग, अप्रिय से संयोग जैसी विषमताओं को सहन-शीलता के साथ भेलना ।^९

१. ध्या. श. ३६

२. यो. श. ५२

३. यो. मा. २६

४. का. श. १५००

५. यो. मा. २६

६. शुभो यः परिणामः स्याद् भावपुण्यं सुखप्रदम् ।

भावायत्तं च यत् कर्म द्रव्यपुण्यमवादि तत् ॥

—ध्या. स्त. ५०

आत्मा में जो शुभ परिणाम होता है, वह भाव-पुण्य है, सुखप्रद है । भाव से जो कर्म-पुद्गल आकृष्ट, संचित होता है वह द्रव्य-पुण्य है ।

७. यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः ।

भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भवसंवरः ॥

—यो. शा. ४.८०

आत्मा में कर्म-पुद्गलों के आगमन का अवरोध द्रव्य-संवर है तथा संसार-भ्रमण की हेतुभूत क्रियाओं का परित्याग भाव-संवर है ।

८. यो. दृ. स. २७

९. किंचान्यद् योगतः स्थैर्यं धैर्यं श्रद्धा च जायते ।

मंत्रो जनप्रियत्वं च प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥

विनिवृत्ताग्रहत्वं च तथा द्वन्द्वसहिष्णुता ।

तदभावश्च लाभश्च बाह्यानां कालसंगतः ॥

धृतिः क्षमा सदाचारो योगवद्धिः शुभोदया ।

आदेयता गुरुत्वं च शम-सौख्यमनुत्तमम् ॥

—यो. बि. ५२-५४

द्वादशच्छदमानवीयपक्ष—बारह पंखुड़ियों वाला सूर्यसम्बन्धी कमल, काल-ज्ञान के सन्दर्भ में योगशास्त्र में जिसकी दाहिने नेत्र में स्थिति स्वीकार की गई है ।^१

द्वादशान्त—ब्रह्मरन्ध्र ।^२

ध

धरापुर—पृथ्वी-मंडल ।^३

धर्मतीर्थ—आत्मा ।^४

अधिक क्या कहें, योग से स्थिरता, धीरता, श्रद्धा, मैत्री, जन-प्रियता, प्रातिभ-प्रतिभानिष्पन्न तत्त्व-ज्ञान, अनायह-वृत्ति, विषम स्थितियों में सहिष्णुता, वैषम्य का अभाव, आनुकूल्य का यथासमय लाभ, संतोष, क्षमाभाव, सद् आचरण, शुभ फलप्रद योग का उत्कर्ष, लोगों में सम्मान-समादर, गौरव तथा निरुपम प्रशान्तभाव का अनुभव—ये सब फलित होते हैं ।

१. वामे तत्रेक्षणे पद्मं षोडशच्छदमैन्दवम् ।

जानीयाद् भानवीयं तु दक्षिणे द्वादशच्छदम् ॥

—यो. शा. ५.१२०

वाम नेत्र में सोलह पंखुड़ी युक्त ऐन्दव—इंदु या चन्द्र सम्बन्धी कमल है और दक्षिण नेत्र में बारह पंखुड़ी युक्त भानवीय—भानु या सूर्य-सम्बन्धी कमल है यह जानना चाहिए । (नेत्र द्वारा काल-ज्ञान के सन्दर्भ में यह वर्णन है ।)

२. यो. प्र. ११५

३. क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम् ।

स्याद्बज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्त्रं धरापुरम् ॥

—ज्ञाना. २६.१६

पृथ्वी-मंडल क्षितिबीजयुक्त, गलाये हुए स्वर्ण की ज्यों पीत-रक्त-प्रभा-समवेत, वज्र-चिह्न सहित एवं चतुष्कोण होता है ।

४. पुरुषास्तीर्थमिच्छन्ति किं तीर्थैः क्लेशकारणैः ।

धर्मतीर्थं शरीरस्थं सर्वतीर्थाधिकं मतम् ॥ —यो. प्र. ३

लोग तीर्थ की कामना करते हैं । आयासजनक तीर्थों से क्या लाभ है ? देह के भीतर आत्मा के रूप में धर्म-तीर्थ विद्यमान है, जो सब तीर्थों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है ।

धर्मबीज—धर्म की बीजरूप में अव्यक्त स्थिति । आचार्य हरिभद्र ने मनुष्य-जीवन के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग किया है । मनुष्य-जीवन में ही धर्मारोधना संभव है क्योंकि बीजरूप में धर्म की संस्थिति है । अतः उनके अनुसार मानव को, जिसे धर्मबीज प्राप्त है, सत्कर्मों की खेती करनी चाहिए ।'

धर्ममेघ—विशिष्ट समाधि । जब विवेकख्याति का अभ्युदय होता है तो योगी के चित्त में अत्यन्त स्वच्छता आ जाती है । फलतः उसमें विलक्षण शक्ति प्रस्फुटित होती है । योगी सर्वज्ञ हो जाता है । ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी जो उससे सर्वथा विरक्त रहता है, उसके कोई विघ्न नहीं होता, उसकी विवेक-ख्याति निरन्तर समुदित रहती है । उस योगी को धर्ममेघ-समाधि प्राप्त हो जाती है । धर्ममेघ समाधि के सिद्ध हो जाने पर उसके अविद्या आदि क्लेश तथा कर्म-संस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं । योगी जीवन्मुक्त हो जाता है ।'

१. धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।

न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेघसः ॥

—यो. दृ. स. ८३

यह संसार कर्म-भूमि है । मनुष्य-जीवन धर्म-बीज है । मंद बुद्धि पुरुष इसे प्राप्त करके भी इसका सत्कर्मरूरी खेती में उपवोग नहीं करते ।

२. धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशक्रशिवोदयः ।

सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽन्नैवार्थयोगतः ॥

—यो. वि. ४२२

(ख) प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।

—पा. यो. सू. ४.२६

(ग) ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।

—पा. यो. सू. ४.३०

धर्मसंघ, अमृतात्मा, भवशक्र, शिवोदय, सत्त्वानन्द तथा पर—ये समाधि के ही नाम हैं, जो भिन्न-भिन्न सैद्धान्तिकों ने प्रयुक्त किये हैं । अर्थ-संगति-पूर्वक ये प्रस्तुत विषय के साथ योजनीय हैं ।

पूँजीपति जसे पूँजी लगाकर उसके व्याज की चिन्ता में लगा रहता है, उस तरह जो योगी विवेक-ज्ञान की महिमा में भी प्रतिबद्ध नहीं रहता, उससे भी जिसे विरक्त हो जाती है, जिसकी विवेकख्याति सतत समुदित रहती है, उसके धर्ममेघ-समाधि सिद्ध होती है ।

धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाने पर योगी के अविद्या आदि पाँचों क्लेश तथा शुकल, कृष्ण, मिश्रित—तीनों कर्म-संस्कार सर्वथा निवृत्त — नष्ट हो जाते हैं ।

धर्मयोग—आत्मोपलब्धि के पथ पर पद-न्यास ।^१

धर्मव्यापार—सभी प्रकार की उत्तम क्रियाएं, जिनका धर्म—आत्माभ्युदय से सम्बन्ध है । आचार्य हरिभद्र के अनुसार विशुद्ध—निर्दोष धर्मव्यापार योग है ।^२

धर्मलाघव—धर्म की लघुता, हलकापन, अशोभा ।^३

धर्मसिद्धि—आत्मस्वरूप का साक्षात्कार ।^४

धर्मसंन्यास—क्षायोपशमिक धर्मों का परिवर्जन, जो सामर्थ्य-योग के प्रथम भेद धर्म-संन्यास में सघता है, जहां साधक द्वितीय अपूर्वकरण की स्थिति में होता है, क्षपकश्रेणी पर आरोहण कर जाता है ।^५

१. यो. दृ. स. ३

२. मोक्षेण ज्ञेयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवाचारो ।

परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं ॥

—यो. वि. १

मोक्ष के साथ योजन—जोड़ने के कारण यद्यपि सभी प्रकार के परिशुद्ध धर्म-व्यापार-धर्मानुगत कार्य योग के अंतर्गत हैं, किन्तु यहां विशेष रूप से स्थान-आसन आदि से सम्बन्धित धर्म-व्यापार योग के रूप में अभिहित हुआ है ।

३. यो. श. ३७

४. फलावंचकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः ।

सानुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥

—यो. दृ. स. २२१

उत्तम पुरुषों के सदुपदेश के परिणाम-स्वरूप धर्म-सिद्धि में—आत्म-स्वरूप के साक्षात्कार (अध्यात्म-साधना) में जिसके द्वारा सानु-बन्ध—एक दूसरे से जुड़े हुए उत्तमोत्तम फलों की उपलब्धि होती है, वह फलावंचक योग है ।

५. द्विधाऽयं धर्मसंन्यास-योगसंन्याससंज्ञितः ।

क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादि कर्म तु ॥

—यो. दृ. स. ६

सामर्थ्य-योग दो प्रकार का है—धर्म-संन्यास सामर्थ्य-योग तथा योग-संन्यास सामर्थ्य-योग । क्षायोपशमिक भाव धर्म हैं तथा शरीर आदि के कर्मयोग हैं ।

धर्म्यं—श्रुत-चारित्र्य रूप धर्म से युक्त (ध्यान) ।^१

धारणा—चित्त को नाभि-चक्र, हृदय-पद्म आदि देह के आभ्यन्तर अथवा सूर्य, चन्द्र आदि बाह्य स्थानों में संलग्न या सम्बद्ध करना ।^२

धार्मिकाभास—बाहर से व्रत आदि में कुशल धार्मिकों जैसे प्रतीत होने वाले, पर भीतर में उससे प्रतिकूल ।^३

धीर—आत्म-स्थिरतायुक्त ।^४

१. अदृढं रुद्धं धम्मं सुक्कं भाणाइ तत्थ अंताइं ।

निध्वाणसाहणाइं भवकारणमट्ठरुद्धाइं ॥

—ध्या. श. ५

आर्तं, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल-ध्यान के ये चार प्रकार हैं । इनमें अन्तिम दो—धर्म एवं शुक्ल निर्वाण के साधन हैं, आर्त और रौद्र भव-भ्रमण के कारण हैं ।

२. (क) यो. दृ. स. १६२

(ख) देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

—पा. यो. सू. ३.१

बाहर या देह के भीतर किसी एक देश—स्थान में चित्त को स्थिर करना—ठहराना धारणा है ।

३. पश्यन्ति लज्जया नीचं दुर्ध्यानिं च प्रयुंजते ।

आत्मानं धार्मिकाभासाः क्षिपन्ति नरकावटे ॥

—अ. सा. २.५.३०

धार्मिकाभास, जो केवल धर्म का स्वांग करते हैं, वास्तव में जो धार्मिक नहीं हैं, वे लज्जावश नीचे देखते हैं (नीचे दृष्टि किये रहते हैं) किन्तु मन में दूषित ध्यान करते हैं । ऐसे नीच जन अपने आपको नरक-कूप में ढकेलते हैं ।

४. एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरायणाः ।

धर्मबाधापरित्याग-यत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥

—यो. दृ. स. १५८

स्थिरा दृष्टि में विद्यमान धैर्यशील साधक प्रत्याहार-परायण होते हैं । इस दृष्टि में योग का पांचवां अंग प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है । साधक धर्माधना में—योगाभ्यास में आने वाली बाधाओं—विघ्नों के परित्याग में यत्नशील होते हैं ।

धृति—संतोष, स्थैर्य ।^१

ध्रौव्य—ध्रुवता, स्थिरता, अविनश्वरता ।^२

ध्याता—ध्यान योग का अभ्यासी, ध्यान-प्रवृत्त साधक ।^३

१. मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याऽचला धृतिः ।

तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥

—स. श. ७१

जिसके चित्त में आत्म-संयम, आत्म-स्थिरता अविचल रूप में विद्यमान हैं, उसे अवश्य मुक्ति-लाभ होता है । जिसके चित्त में इनका टिकाव नहीं होता, उसे कदापि मुक्ति प्राप्त नहीं होती ।

२. ध्रौव्यादिकलितैर्भविर्निभरं कलितं जगत् ।

चिन्तितं युगपद्यत्र तज्ज्ञानं योगिलोचनम् ॥

—ज्ञाना. ७.२

यह जगत् उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवतामय स्वभावयुक्त पदार्थों से आपूर्ण है । जिसके ज्ञान में ये तीनों भाव एक साथ भासित हों, वही ज्ञान योगियों के नेत्र के सदृश है—वही योगि-प्रत्यक्ष है ।

३. अमुंचन् प्राणनाशेऽपि संयमैकधुरीणताम् ।

परमप्यात्मवत् पश्यन् स्वस्वरूपापरिच्युतः ॥

उपतापमसंप्राप्तः शीत-वातातपादिभिः ।

पिपासुरमरीकारि योगामृत-रसायनम् ॥

रागादिभिरनाक्रान्तं क्रोधादिभिरद्वेषितम् ।

आत्मारामं मनःकुर्वन् निर्लेपः सर्वकर्मसु ॥

विरतः काम-भोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः ।

संवेग-हृद-भिर्भग्नः सर्वत्र समतां श्रयन् ॥

नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा तुल्य-कल्याण-कामना ।

अमात्र-करुणा-पात्रं भव-सौख्यपराङ्मुखः ॥

सुमेधिरिव निष्कम्पः शशिवानन्द-दायकः ।

समीर इव निःसंगः सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥

—योः शा. ७.२-७

जो प्राण-नाश का प्रसंग उपस्थित हो जाने पर भी संयममय साधना का परित्याग नहीं करता, अन्य जीवों को जो अपने समान समझता है, जो अपने स्वरूप या स्वभाव से स्खलित नहीं होता, जो सर्दी, हवा और गर्मी आदि से खिन्न नहीं होता, जो अमरत्व प्रदान करने वाले योगरूपी अमृत-रसायन के पान का इच्छुक रहता है, जो राग आदि दोषों से अनाक्रान्त—उनके आक्रमण से रहित (उनसे

ध्यान—ध्येय में प्रत्ययैकतानता, चित्त-वृत्ति की एकाग्रता ।^१

ध्यान-प्रतिपत्तिक्रम—मुक्त होने के पूर्व अन्तर्मुहूर्त्त तक रहने वाली शैलेशी अवस्था में केवली के शुक्ल ध्यान-प्राप्ति का क्रम ।^२

ध्यानसंतति—ध्यान-परंपरा ।^३

ध्यान-संतान—आत्मगत—परगत अनेक वस्तुओं में संचरणशील होने के कारण दीर्घकाल पर्यन्त संभावित ध्यान-प्रवाह ।^४

ध्यानावधान—ध्यान का प्रभाव ।^५

अप्रभावित) है, क्रोध आदि से अदूषित है, जिसका मन आत्मोद्यान में रमण करता है, जो सब कर्मों से अलिप्त रहता है, जो सांसारिक सुखमय भोगों से विरत है, जिसकी अपने शरीर में भी स्पृहा—आकांक्षा (आसक्ति) नहीं है, जो वैराग्य के सरोवर में निमग्न है, सर्वत्र समता लिये रहता है, जो भूपति एवं निर्धन—दोनों की समान रूप से कल्याण-कामना करता है, जो प्राणीमात्र के प्रति करुणाशील, सांसारिक सुखों से विमुख, सुमेरु के सदृश अप्रकंप—सुस्थिर, चन्द्र की ज्यों आनन्दप्रद तथा वायु की तरह प्रतिबन्धरहित है, वह प्रज्ञाशील, प्रशस्त (उत्तम) कोटि का ध्यानी होता है ।

१. (क) यो. दृ. स. १७०

(ख) तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

—पा. यो. सू. ३.२

ध्येय में चित्त की एकाग्रता ध्यान है ।

२. ध्या. श. ४४

३. मुहूर्तान्तर्भवेद्ध्यानमेकार्थं मनसः स्थितिः ।

बह्वर्थसंक्रमे दीर्घाऽप्यच्छिन्ना ध्यान-संततिः ॥

—अ. सा. ५.१६-२

एक अर्थ—पदार्थ (आलंबन) में अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त मन का अवस्थित रहना ध्यान है । अनेक पदार्थों—आलंबनों के संक्रमण में मन की जो दीर्घ—लम्बी और अविच्छिन्न स्थिति होती है, उसे ध्यान-संतति—ध्यान-श्रेणी कहा जाता है ।

४. ध्या. श. ४

५. यो. सा. ७

ध्रुवाध्वा—सत्प्रवृत्तिपद या असंगानुष्ठान ।^१

ध्येय—ध्यान का विषय । जिस पर ध्यान टिकाया जाए, वह पदार्थ—
प्रतीक, शब्द, अर्थ इत्यादि ।^२

न

नय—युक्ति-साधक वचन, सापेक्ष निरूपण ।^३

नरक्षेत्र—मनुष्यक्षेत्र, मनुष्यों के रहने का स्थान ।^४

नाद—योग-सम्मत लयात्मक ध्वनि-विशेष ।^५

नानात्व-भूत-विचार—शुक्ल ध्यान के चार भेदों में प्रथम भेद—पृथक्त्व-वितर्क-सविचार ।^६

१. तत्प्रवृत्तिपदं चेहासंगानुष्ठानसंज्ञितम् ।

महापथप्रयाणं यदनागामि पदावहम् ॥

प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।

शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥

यो. दू. स. १७५-७६

जिसका पीछे सत्प्रवृत्तिपद के रूप में प्रतिपादन हुआ है, उसी का नाम असंगानुष्ठान है । (सब प्रकार के संग—आसक्ति से अतीत विशुद्ध आत्मानुचरण असंगानुष्ठान है । (यह योग-साधना के महान् उपक्रम में गति उत्पन्न करता है । यह अनागामि पद—जन्म-मरण से रहित शाश्वत पद—मुक्ति प्राप्त कराता है ।

२. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्धा ध्येयमाप्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥

—यो. शा. ७-८

ज्ञानी पुरुषों द्वारा ध्यान का आलम्बन—ध्येय चार प्रकार का बतलाया गया है—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ एवं ४. रूपा-तीत ।

३. यो. दू. स. १९४

४. ज्ञाना. ३६.८५

५. यो. प्र. ११५

६. एकत्र पर्यायाणां विविधनयानुसरणं भूताद् द्रव्ये ।

अर्थव्यंजनयोगान्तरेषु संक्रमणयुक्तमाद्यं तत् ॥

—यो. शा. ११.६

किसी एक द्रव्य में उत्पत्ति, विनाश, ध्रुवता आदि पर्यायों का

नानाविध—रौद्रध्यानी जीव के चार दोषों में तीसरा दोष । चमड़ी उधेड़ने, नेत्र उखाड़ने जैसे निर्दय, निर्घृण हिंसात्मक उपक्रमों के चिन्तन में संलग्न रहना नानाविध दोष है ।^१

नाभिकन्द—पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत परिकल्पित सोलह पंखुड़ियों के कमल का नाभवति मूल स्थान ।^२

विविध नयों के अनुसार श्रुत के आधार पर चिन्तन करना पृथक्त्व-श्रुत-सविचार नामक शुक्ल ध्यान है ।

इस ध्यान में अर्थ—पदार्थ, द्रव्य, व्यंजन-शब्द और योग का संक्रमण रहता है ।

१. ध्या. श. २६

२. यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।

तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्त-पारगैः ॥

तत्र षोडश-पत्राद्वये नाभिकन्द-गतेऽम्बुजे ।

स्वर-मालां यथापत्रं भ्रमन्तीं परिचिन्तयेत् ॥

चतुर्विंशतिपत्रं च हृदि पद्मं सर्गणिकम् ।

वर्णानि यथाक्रमं तत्र चिन्तयेत् पञ्चविंशतिम् ॥

वक्त्राब्जेऽष्टदले वर्णाष्टिकमन्यत्ततःस्मरेत् ।

संस्मरन् मातृकामेवं स्यात् श्रुत-ज्ञान-पारगः ॥

—यो. शा. द. १-४

साधक को चाहिए कि वह नाभिकन्द पर परिकल्पित एक सोलह पंखुड़ीयुक्त कमल के प्रत्येक पत्र पर सोलह स्वरों—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः की घूमती हुई पंक्ति का चिन्तन करे ।

दूसरे हृदय-स्थित चौबीस पंखुड़ीयुक्त, कर्णिकासहित कमल में क्रमशः क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्—इन व्यंजनों का चिन्तन करे—इनमें से चौबीस व्यंजनों का चौबीस पंखुड़ियों में तथा म् को कर्णिका में स्थापित कर चिन्तन करना चाहिए ।

तीसरे आठ पंखुड़ीयुक्त कमल की मुख में कल्पना करे । उसमें अवशिष्ट आठ व्यंजन य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह् का चिन्तन करना चाहिए ।

इस प्रकार इस मातृका—वर्णमाला का स्मरण, चिन्तन करता हुआ योगी श्रुत-ज्ञान का पारगामी हो जाता है ।

नाभि-पद्म—नाभि-कमल, हठयोग-सम्मत मणिपूर चक्र ।^१

नामोच्छित्ति—नाम-कर्म का नाश ।^२

निकाचित—कर्म का एक भेद, फल-भोग के बिना जिसका अपगम न हो ।^३

निकृति—माया, छल-कपट पूर्ण व्यवहार ।^४

निखिलाध्यक्षपक्षावसेय—सम्पूर्ण जगत् के, समग्र पदार्थों के साक्षात् द्रष्टा, ज्ञाता—सर्वज्ञ ।^५

निगड—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में आठवां दोष, पैरों को सटाकर या चौड़ा कर खड़ा होना निगड दोष है ।^६

निग्रहानुग्रहधी—बहिरात्मभाव के कारण देह को भूख, प्यास, पंचाग्नि-तप आदि द्वारा उत्पीड़ित करने तथा रागवश उसे सजाने-संवारने, सुखी करने की बुद्धि ।^७

निजस्वभावावलोकन—आत्मस्वरूप का पर्यवेक्षण ।^८

१. यो. मा. ११

२. यो. मा. ३८

३. अ. सा. ६.१६३

४. जन्मभूमिरविद्यानामकीर्त्तवसिमन्दिरम् ।

पापपंकमहागतो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ॥

ज्ञाना. १६.५८

विद्वज्जनों ने माया को अविद्या की जन्म-भूमि, अपयश का आवास-स्थान तथा पाप-रूप कीचड़ का भारी गड्ढा बतलाया है ।

५. यो. मा. ३१

६. का. श. १५६०

७. न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।

निग्रहानुग्रहधियं तथाऽप्यत्रैव कुर्वन्ते ॥

—स. श. ६१

अबुद्धि—अज्ञानी जीव शत्रु को निगृहीत—दंडित करने तथा मित्र को अनुगृहीत करने की दृष्टि से उनके शरीर को दुःख, सुख देने का उपक्रम करते हैं । सुख-दुःख का जिसे बोध होता है उस आत्मा को वे नहीं जानते ।

८. निययसहावालोयण-जणवायावगम-जोगसुद्धेहि ।

उच्चियत्तं नाऊणं निमित्तओ सय पयट्ठेज्जा ॥

—यो. श. ३६

अपने स्वभाव का अवलोकन करते हुए, लोक-परंपरा से अवगत होते हुए शुद्ध योग के आधार पर कार्य का औचित्य समझकर बाह्य निमित्तों पर गौर कर नियमानुसरण में प्रवृत्त होना चाहिए ।

निदान—दृढ़ आसक्ति या आवेश वश आगामी भोगों की आकांक्षा, इच्छा-दुरिच्छा पूर्ति का तीव्र भाव, अतएव अपने द्वारा किये जाते तप आदि के तदनुरूप फल की संकल्पना ।^१

निमित्तोपनिपात—निमित्तकी उपलब्धि ।^२

नियतभावत्व—सब कुछ नियत है, ऐसे सिद्धान्त का स्वीकार ।^३

नियतेन्द्रिय—नियन्त्रित या संयत इन्द्रिय युक्त ।^४

नियम—उचित कार्य-कारण-व्यवस्था का सुनिश्चित प्रतिष्ठापन, निश्चय नय ।
जैन दर्शन में किसी अपेक्षा से निश्चय तथा व्यवहार—दो नय स्वीकार किये गये हैं । निश्चय नय सर्वथा तथ्यपरक होता है, लोक-व्यवहार की संगति-असंगति से उसका कोई प्रयोजन नहीं । व्यवहार नय लोक-व्यवहार, परम्परा या प्रचलन पर आधारित है । आचार्य हरिभद्र द्वारा योगविशिका में नियम शब्द का प्रयोग निश्चय नय के अर्थ में किया गया है ।^५

१. ध्या. श. ६

२. यो. बि. २७७

३. सांसिद्धिकं च सर्वेषामेतदाहुर्मनीषिणः ।

अन्ये नियतभावत्वादन्ये न्यायवादिनः ॥

—यो. बि. ३१३

मनीषी—ज्ञानी बतलाते हैं कि सबका ईश्वर, प्रकृति एवं अत्मा का कार्य-व्यापार सांसिद्धिजनित है—अपने अपने स्वभाववर्ती संस्कार से सिद्ध है—तदनुरूप क्रिया-प्रक्रिया में परिणत है । कतिपय तर्कवादी नियत-भाव के आधार पर—वैसा होना था, इसलिए हुआ—इस सिद्धांत को लक्षित (आश्रित) कर निरूपण करते हैं ।

४. यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।

अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्य ज्योतिरुत्तमम् ॥

—स. श. ५१

ज्ञानी यह सोचता है कि जो मैं इन्द्रियों से देखता-जानता हूं, वह मेरा नहीं है । मैं नियतेन्द्रिय—संयतेन्द्रिय (जितेन्द्रिय) होकर आनन्द-मयी, उत्तम अन्तर्ज्योति का दर्शन करूं ।

५. देसे सव्वे य तहा नियमेणेतो चरित्तिणो होइ ।

इयरस्स बीयमित्तं इतुच्चिय केइ इच्छंति ॥

—यो. बि. ३

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन तथा अनालंबन के रूप में पांच प्रकार का योग निश्चय-दृष्टि से उसी के सिद्ध होता है, जो चारित्र-

निरंजन—सर्वथा निरावरण, निर्लेप ।^१

निरंश—अंशवर्जित, अखण्ड ।^२

निरनुबंध—योग के छः भेदों में चौथा भेद, जिसमें साधनाक्रम में बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध उत्पन्न होता रहता है ।^३

निरवद्य—अशुभवर्जित, पापरहित ।^४

मोहनीय के क्षयोपशम के परिणाम-स्वरूप अंशतः या संपूर्णतः चारित्र्यी—चारित्र्ययुक्त होता है, और किसी के केवल (योग) बीज-रूप होता है । व्यावहारिक दृष्टि से कुछ लोग इसे भी योग कहना पसंद करते हैं ।

१. अमूर्त्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।

निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् ॥

—यो. शा. १०.१

अमूर्त्त—आकाररहित, चिदानन्दमय, निरंजन, सिद्ध, परमात्मा का ध्यान रूपवर्जित—रूपातीत ध्यान कहा जाता है ।

२. अंशावतार एकस्य कुत एकत्वहानितः ।

निरंश एक इत्युक्तः स चाद्वैत-निबन्धनम् ॥

—यो. बि. ५१४

आद्वैत वेदान्त के अनुसार ऐसा नहीं माना जा सकता कि एक ही आत्मा में अनेक अंश या भाग विद्यमान हैं । ऐसा माने जाने पर एकत्व की हानि होती है—एक ही आत्मा के सिद्धान्त—केवलाद्वैत की वास्तविकता घटित नहीं होती । वहां माना जाता है कि आत्मा एक है, निरंश है । उसी से केवलाद्वैत फलित होता है ।

३. यो. बि. ३२

४. गमणाइएहि कायं निरवज्जेहि वयं च भणिएहि ।

सुहचिंतणेहि य मणं सोहेज्जा जोगसिद्धिं ति ॥

—यो. श. ४०

निरवद्य—निर्दोष गमन आदि क्रियाओं द्वारा, निरवद्य वाणी द्वारा एवं शुभ चिन्तन द्वारा मन का शोधन—परिष्कार करना चाहिए ।

निराचारपद—योगी की वह आत्मोन्मुख उन्नत स्थिति, जिसमें उसके लिए किसी प्रकार के आचार-अनुसरण का प्रयोजन नहीं रह जाता, वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार योगी परा (आठवीं) दृष्टि में यह स्थिति प्राप्त कर लेता है।^१

निरालम्ब—आलम्बन या ध्येय पदार्थ रूप आश्रय-रहित।^२

निरुद्ध—बहिर्विषय-विमुख।^३

निरुद्धाशेषवृत्ति—समस्त बाह्य वृत्तियों का निरोध, आत्म-स्वरूप में परिणति।^४

१. निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविर्वाजितः ।

आरूढारोहणाभावगतवत्त्वस्य चेष्टितम् ॥

—यो. दृ. स. १७६

पर दृष्टि में स्थित योगी निराचार—पदयुक्त होता है—किसी आचार-विशेष का परिपालन वहां अपेक्षित नहीं होता। वह अति-चार—दोष रहित होता है। जो अपने ध्येय (मंजिल) पर आरूढ हो चुका हो—पहुंच गया हो, उसे और आगे आरोहण की आवश्यकता नहीं रहती। यहां योगी ऐसी ही स्थिति प्राप्त किये होता है।

२. अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत् ।

सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमंजसा ॥

—ज्ञाना. ३३.४

तत्त्ववेत्ता लक्ष्य से अलक्ष्य, स्थूल से सूक्ष्म तथा सालम्बन से अनालम्बन का यथावत् चिन्तन करे।

३. उपरतविकल्पवृत्तिकमवग्रहादिक्रमच्युतं शुद्धम् ।

आत्माराममुनीनां भवति निरुद्धं सदा चेतः ॥

—अ. सा. ७.८

जिनकी विकल्पजनित वृत्तियां शान्त हो गई हैं, जो अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा के क्रम से अतीत हैं, वैसे आत्माभिरत मुनियों का शुद्ध चित्त, निरुद्ध कहलाता है।

४. असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।

निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुबोधतः ॥

—यो. बि. ४२१

कैवल्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् आगे जो निष्पत्ति होती है, उसे पातंजल योग में असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। उसमें सभी बाह्य वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, आत्मस्वरूप में परिणत हो जाती हैं।

निरुपक्रम—अपाय, हिंसा, असत्य, लोभ, अहंकार, क्रोध, द्वेष आदि से सम्बद्ध विविध अशुभ कर्म ।^१

निर्गुण—गुणातीत, सत्त्व, रजस् तथा तमस् से विनिर्मुक्त ।^२

निर्ग्रन्थ—असंयत, अविरति आदि आत्मगुण-विघातक गांठों से अतीत ।^३

निर्जरा—संसार में आवागमन, जन्म-मरण के कारणभूत कर्मों का निर्जीण होना, झड़ना, आत्मा से पृथक् होना निर्जरा है ।^४

निर्लाछन—पशुओं के नाक बीधना, अंकित करना—डाम लगाना, बधिया करना, कान तथा गल-कम्बल का छेदन करना आदि निर्लाछन कर्म हैं ।^५

१. अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम् ।

पापाशयकरं चित्रं निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥

—यो. बि. ३७३

निरपाय—अपायवर्जित, विघ्नातीत सत्पुरुषों ने अतीत में आचरित पापपूर्ण हिंसा आदि विविध कर्मों को अपाय कहा है। उनकी “निरुपक्रम” संज्ञा भी है।

२. यो. प्र. ३१

३. अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं तेण तज्जयट्ठाए ।

अब्भुट्ठिया उ तवसंजमं च कुब्बंति निगंथा ॥

—का. श. १४७०

अष्टविध कर्म आत्मा के लिए शत्रुतुल्य हैं। उनके जयार्थ अभ्युत्थित—उन्हें जीतने या नष्ट करने के लिए समुद्यत निर्ग्रन्थ तप एवं संयम का आचरण करते हैं।

४. संसारबीजभूतानां कर्मणां जरणादिह ।

निर्जरा सा स्मृता द्वेषा सकामा कामवर्जिता ॥

—यो. शा. ४.८६

संसार—आवागमन (जन्म-मरण) के मूल कारण कर्मों का आत्मप्रदेशों से झड़ जाना, अलग हो जाना निर्जरा है। उसके दो भेद हैं—सकाम निर्जरा एवं अकाम निर्जरा।

५. नासो वेधोऽकनं मुष्कच्छेदनं पृष्ठगालनम् ।

कर्ण-कम्बलविच्छेदो निर्लाछनमुदीरितम् ॥

—यो. शा. ३.११

पशुओं के नाक बीधना, अंकित करना—डाम लगाना, बधिया करना, पीठ गालना, कान एवं गलकम्बल का छेदन करना निर्लाछन कर्म कहा जाता है।

निर्विकल्प—शुद्धोपयोगरूप (समाधि) ।^१

निर्विकल्पक—संकल्प-विकल्प से अतीत, परम शुद्ध ।^२

निर्विण्ण—प्रशान्त ।^३

निर्विण्ण—निर्वेदयुक्त, वैराग्ययुक्त ।^४

निर्वृत्ति—परम शान्ति, मोक्ष ।^५

१. शुभोपयोगरूपोऽयं समाधिः सविकल्पकः ।

शुद्धोपयोगरूपस्तु निर्विकल्पस्तदेकदृक् ॥

—अध्या. २.१६

शुभ उपयोगमय समाधि, सविकल्पक समाधि होती है तथा शुद्ध उपयोगमय समाधि निर्विकल्पक, एकदृष्टिमूलक समाधि होती है ।

२. यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादयेत् ।

उन्मत्त-क्षेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥

—स. श. १६

जो दूसरे मेरा—मेरे बहिर्व्यक्तित्व का शब्दों द्वारा प्रतिपादन करते हैं, मैं जो दूसरों का शब्दों द्वारा प्रतिपादन करता हूं, वह पागल की सी चेष्टा है । क्योंकि मैं और दूसरे भी वस्तुतः निर्विकल्पक—शुद्ध चैतन्य मात्र हैं ।

३. का. श. १४७४

४. निर्विण्णोऽसि यदा आतर्द्वरन्ताज्जन्मसंक्रमात् ।

तदा धीर ! परा ध्यानधुरां धैर्येण धारय ॥

—ज्ञाना० ३.२४

धर्मशील पुरुष ! यदि तुम दूषित फलमय भव-भ्रमण से विरक्त हो—उसे मिटाना चाहते हो तो स्थिरता के आषादक उत्कृष्ट ध्यान का अवलम्बन करो, अभ्यास करो ।

५. स्वबुद्ध्या यावत् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृत्तिः ॥

—स. श. ६२

जब तक जीव की शरीर, वाणी और चित्त—इन तीनों में आत्मबुद्धि है—इन्हें वह आत्मा समझता है, तब तक उसका संसार—जन्म-मरण का चक्र गतिशील रहता है, किन्तु जब जीव “स्व” और “पर” का भेद जान लेता है, वह सहज ही निर्वाण-सुख की ओर अग्रसर होता है ।

निर्वेद—मन की वह स्थिति, जिसमें से वासना, तृष्णा, भौतिक आकर्षण निकल जाते हैं, जिससे अनुप्राणित हो मुमुक्षु पुरुष भव-वैराग्य पा लेता है, संसार से विरक्त हो जाता है ।^१

निर्वेद-पदवी—वैराग्य का अधिष्ठान ।^२

निवृत्तप्रकृति—कर्म-प्रकृति की निवृत्ति या क्षयोपशम का क्रम ।^३

निवृत्त्यनुवृत्तियोग—एक पर्याय के त्याग, दूसरे पर्याय के ग्रहण—एक पर्याय से दूसरे पर्याय में अभिगमन का क्रम ।^४

१. अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइ तह य पसम ति ।

एएसि अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं ॥

—यो. वि. ८

इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धिरूप योगों के सिद्ध हो जाने पर क्रमशः अनुकंपा—करुणा, निर्वेद—जगत् से विरक्ति, संवेग—तीव्र उत्कंठापूर्ण मुमुक्षुभाव, प्रशम—भोग-वासना का उपशम—ये अनुभव—आंतरिक स्थिति के सूचक भाव स्वयं प्रकट होते हैं ।

२. अनुद्विग्नेस्तथाऽप्यस्य स्वरूपं बन्धमोक्षयोः ।

कीर्त्यते येन निर्वेदपदवीमधिरोहति ॥

—ज्ञाना. १.२३

उद्वेगरहित—क्षोभशून्य, प्रशान्त (उत्तम) पुरुष प्राणी के हितार्थ बन्ध तथा मोक्ष का स्वरूप बतलाते हैं, जिससे वह वैराग्यभाव प्राप्त करे ।

३. अहिगारी पुण एत्थं विन्नेओ अपुणबंधगाइ ति ।

तह तह नियत्तपयई अहिगारोऽण्णेगमेओ ति ॥

—यो. श. ६

अपुनर्बन्धक—अंतिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान जीव योग-साधना का अधिकारी है, यह समझना चाहिए । कर्म-प्रकृतियों की निवृत्ति या क्षयोपशम की तरतमता के अनुसार यह अधिकार अनेक प्रकार का होता है ।

४. एयस्स उ भावाओ निवित्ति-क्षणुवित्तिजोगओ होंति ।

उप्पायाई नेयं अविकारी अणुहवविरोहो ॥

—यो. श. ७३

वस्तु में स्वभावतः निवृत्ति—एक पर्याय का त्याग तथा अनुवृत्ति—दूसरे पर्याय का ग्रहण—उत्पाद—ऐसा क्रम गतिशील रहता है । साथ ही साथ वस्तु का मूल स्वरूप स्थिर रहता है । इस प्रकार वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-मूलक है । अतः वस्तु को अविकारी-विकार-रहित—परिणमनरहित या कूटस्थ नित्य मानना अनुभव-विरुद्ध है ।

निषण्ण—बैठा हुआ ।^१

निषिद्धासेवन—निषिद्ध आचरणों का अनुसरण ।^२

निष्कल—अखण्ड ।^३

१. का. श १४७३

२. प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः ।

तृतीयौषधकरूपत्वात् द्विसन्ध्यमथवाऽसति ॥

निषिद्धासेवनादि यद् विषयोऽस्य प्रकीर्तितः ।

तदेतद् भावसंशुद्धिः कारणं परमं मतम् ॥

—यो. बि. ४००-४०१

यदि प्रमाद—संयम के प्रति आत्मगत अनुत्साह, शुद्ध उपयोग के अभाव के कारण साधना में दोष लग जाए तो दिन में दो बार—प्रातःकाल, सायंकाल प्रतिक्रमण करना चाहिए । यदि दोष न भी लगे तो भी प्रतिक्रमण करना अपेक्षित है । यह तृतीय औषध, जो यदि रोग हो तो उसे नष्ट करे, न हो तो देह को पुष्ट करे—की ज्यों हितप्रद है ।

३. समदेरिन्द्रिय-भुजगै रहिते विमनस्क-नव-मुधा-कुण्डे ।

मग्नोऽनुभवति योगी परामृतास्वादसमानम् ॥

रेचक-पूरक-कुंभक-करणाभ्यास-क्रमं विनाऽपि खलु ।

स्वयमेव नश्यति मरुद् विमानस्के सत्यप्रत्येन ॥

चिरमाहित-प्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव ॥

सत्यमनस्के तिष्ठति स समीरणस्तत्क्षणादेव ॥

जातेऽभ्यासे स्थिरतामुदयति विमले च निष्फले तत्त्वे ।

मुक्त इति भाति योगी समूलमुन्मूलित-श्वासः ॥

—यो. शा. १२.४३-४६

मदोन्मत्त इंद्रिय-रूप सर्पों से उन्मुक्त योगी उन्मनीभाव-रूप अभिनव अमृत-कुंड में निमग्न होकर अनुपम अध्यात्म-रस का आस्वादन करता है ।

उन्मनीभाव—अमनस्कता प्राप्त हो जाने पर रेचक, पूरक, कुंभक रूप प्राणायाम तथा आसन आदि के अभ्यास तथा प्रयत्न के बिना ही, स्वतः वायु का नाश हो जाता है ।

चिरकाल पर्यन्त किये गये प्रयत्नों द्वारा भी जिस वायु को नियंत्रित करना अशक्य होता है, अमनस्कता उत्पन्न हो जाने पर वही वायु तत्क्षण स्थिर हो जाती है ।

निष्ठाप्राप्त—साधना में परिपक्वता प्राप्त किये हुए ।^१

निष्ठितात्मा—सिद्धात्मा ।^२

निष्ठितार्थ—कृतकृत्य, जिसने करने योग्य कर लिया हो ।^३

निष्पन्नात्मा—जिसने अपना लक्ष्य निष्पन्न कर लिया है, साध लिया है ।^४

इस अभ्यास में स्थिरता आ जाने पर तथा निर्मल, अखंड तत्त्व-ज्ञान अधिगत हो जाने पर श्वास का समूल उन्मूलन कर योगी मुक्त पुरुष के सदृश विभावित होता है ।

१. तथा तथाक्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते ।

निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृतः ॥

—यो. बि. ४ ६

उत्तरोत्तर शुद्धावस्था प्राप्त करते जाने का पर्यवसान समाधि—आत्मलीनता में होता है । फलतः साधक अपना चरम लक्ष्य सिद्ध कर लेता है । योगवेत्ताओं ने उसे मुक्ति कहा है ।

२. त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।

नान्तर्बहिर्रूपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥

—स. श. ४७

मूढ—अज्ञानी (आत्म-ज्ञान रहित) बाह्य पदार्थों के त्याग को त्याग या वैराग्य समझता है तथा बाह्य पदार्थों के आदान—ग्रहण को परिग्रह मानता है । किन्तु आत्मवेत्ता आध्यात्मिक—आत्मगत (आंतरिक) राग-द्वेष के त्याग तथा बाह्य पदार्थगत आंतरिक मूर्च्छा को परिग्रह मानता है ।

निश्चय दृष्टि से निष्ठित—स्वरूपावस्थित आत्मा न बाहर से कुछ ग्रहण और न त्याग ही करता है ।

३. एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः ॥

निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठति ।

—यो. बि. ५०४

कर्म-बंध का तांता टूट जाने पर, कर्म-क्षय हो जाने पर, जीव के संक्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश) नष्ट हो जाते हैं । उसका साध्य सिद्ध हो जाता है । बाधाएं दूर हो जाती हैं । वह शाश्वत आनन्द में लीन हो जाता है, मुक्त हो जाता है ।

४. तदासौ निर्मलः शान्तो निष्कलंको निरामयः ।

जन्मजानेक-दुर्वार-बन्धन-व्यसन-विच्युतः ॥

सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरंजनः ।

निष्क्रियो निष्कलः शुद्धो निर्विकल्पोऽतिनिर्मलः ॥

निश्चययोग—निश्चयदृष्टि से सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य का आत्मा के साथ योग-सम्बन्ध ।

निसर्ग—स्वभाव, आत्मवृत्ति ।

आविर्भूत-यथाख्यात-चरणोऽनन्तवीर्यवान् ।
 परां शुद्धिं परिप्राप्तो दृष्टेर्बोधस्य चात्मनः ॥
 अयोगी त्यक्तयोगत्वात् केवलोत्पाद-निर्वृतः ।
 साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी परं प्रभुः ॥
 लघुपञ्चाक्षरोच्चार-कालं स्थित्वा ततःपरम् ।
 स स्वभावाद् व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीत-बंधनः ॥
 अवरोध-विमुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः ।
 धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते ॥

—ज्ञाना. ४२.५५-६०

चतुर्दश-अयोग-केवली-गुणस्थान में विद्यमान, परमप्रभु केवली भगवान् जो निर्मल, शान्त, निष्कलंक, निरामय, जन्म-मृत्यु रूप दुर्निवार बन्धनों एवं कष्टों से रहित, सिद्धात्मा, सुप्रसिद्धात्मा, निष्पन्नात्मा, निरंजन, निष्क्रिय, निःशब्द, शुद्ध, निर्विकल्प, अत्यन्त निर्मल, यथाख्यातचारित्र्य से युक्त, अनन्त शक्तिशाली, परमशुद्ध, दर्शन एवं बोध से समवेत, अयोगी—मानसिक, वाचिक तथा कायिक योगों से—प्रवृत्तियों से रहित, अत्यन्त प्रशान्त—आत्मस्वभावगत परम शान्तिमय, बन्धनशून्य होते हैं। वे पांच ह्रस्व अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय उस स्थिति में रहकर फिर स्वभाव से ही ऊपर की ओर प्रयाण करते हैं। उनके प्रयाण में कोई अवरोध नहीं आता। एक ही समय में लोक के अग्रभाग—सर्वोपरि भाग में पहुंच जाते हैं, संस्थित हो जाते हैं। उससे आगे अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव है, इसलिए उनका वहां गमन नहीं होता।

१. निश्चयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबंधो ।

मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेहि ॥

—यो. श. २

उत्कृष्ट योगियों ने बतलाया है कि निश्चयदृष्टि से सद्ज्ञान आदि—सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र्य—इन तीनों का आत्मा के साथ संबंध होना योग है। उससे आत्मा का मोक्ष के साथ योजन या योग निष्पन्न होता है।

२. ध्या. श. ६७

निस्तरंग—भाव-तरंगों की चंचलता से अतीत ।^१

निःश्रेयस—मोक्ष ।^१

निःसंग—वैषयिक आसक्ति से रहित ।^१

निःस्पन्दन—काठ, पाषाण आदि की तरह स्पन्दन—हलन-चलन रहित, जड़, अक्रिय ।^१

नीति—न्याय-पथ, युक्तिसंगतता ।^१

नीललेश्या—नीलम के सदृश नीले तथा सोंठ से अनन्तगुण तीक्ष्ण कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में माया, लोलुपता, विषय लालसा आदि जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, वह नीललेश्या है ।^१

नैरात्म्य-दर्शन—वह दर्शन, जो आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता ।^१

न्यायमुद्रा—तर्क—युक्ति ।^१

१. यो. प्र. १२०

२. भेदोऽपि चास्य विज्ञेयो न भूयो भवनं तथा ।

तीव्रसंक्लेशविगमात् सदा निःश्रेयसावहः ॥

—यो. बि. २८२

ग्रन्थभेद हो जाने पर तीव्र संक्लेश—तीव्र कषाय अपगत हो जाते हैं । फिर जीव दीर्घ-ससार के चक्र में—जन्म-मरण के दीर्घ-कालीन बंधन में नहीं पड़ता । अन्ततः वह निःश्रेयस्—मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

३. ध्या. श. ३४

४. यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्दन समं जगत् ।

अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥

—स. श. ६७

जिसको यह स्पन्दनमय—गतिशील जगत् निःस्पन्द—अगतिशील, अप्रज्ञ—अचेतन, अक्रिय-क्रियाशून्य तथा अभोग-भोगशून्य (अभोग्य) प्रतीत होता है, वह शम भाव—शान्ति प्राप्त करता है, अन्य नहीं ।

५. यो. वृ. स. १६६

६. ध्या. श. १४

७. यो. बि. ४५८

८. प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः ।

हेत्वभेदादिबं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥ —यो. बि. १६५

प्रकृति के भेद से आत्मा में भेद—वैषम्य उत्पन्न नहीं होता । वास्तव में आत्मा स्वरूपतः प्रकृति से सर्वथा पृथक् है । यह तथ्य तर्क एवं युक्ति द्वारा सम्यक् सिद्ध है ।

न्याय-वैगुण्य—युक्ति-विपरीतता ।^१

प

पक्षपात—विशेष अभिरुचि, अत्यधिक आकर्षण ।^२

पदस्थ—मन्त्राक्षर आदि पदों का अवलम्बन कर किया जाने वाला ध्यान ।^३

पदातीत—लौकिक नामरूपात्मकता से सर्वथा पृथक् ।^४

पदारोह—गुणस्थान, आत्मगुणों का विकासक्रम, अभ्युदय-सरणि ।^५

१. आत्मा कर्माणि तद्योगः सहेतुरखिलस्तथा ।

फलं द्विधा वियोगश्च सर्वं तत्तत्स्वभावतः ॥

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत् ।

अन्यथा न्यायवैगुण्यात् भवन्नपि न शस्यते ॥

—यो. बि. ४१३-४१४

आत्मा, कर्म, उनका हेतुजन्य योग-सम्बन्ध, शुभ अशुभ फल, कर्मों का आत्मा से वियोग—पार्थक्य—यह सब उनके अपने अपने स्वभाव से घटित होता है ।

पुरुषकार—पुरुषार्थ, पराक्रम (उद्यम) तभी सफल होता है, जब वह आत्मा एवं कर्म आदि के स्वभाव के अनुरूप हो, अन्यथा—वस्तु स्वभाव के प्रतिकूल होने से उनकी कार्यकारिता सिद्ध नहीं होती ।

२. कुजादियोगिनामस्मान्मत्तोऽपि जडधीमताम् ।

श्रवणात् पक्षपातादेरुपकारोऽस्ति लेशतः ॥

—यो. दू. स. २२२

कुलयोगियों तथा प्रवृत्तचक्रयोगियों में जो मुझसे भी अधिक जड़बुद्धि हैं, उनमें इस ग्रंथ के श्रवण से शुभ इच्छा आदि भाव जगेंगे, उनका यत्किंचित् उपकार तो होगा ही ।

३. यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते ।

तत्पदस्थं समाल्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारमैः ॥

—यो. शा. द. १

पवित्र पद—मन्त्राक्षर आदि का आलम्बन कर जो ध्यान किया जाता है, अध्यात्म-दर्शन के पारगामी मनीषी उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं ।

४. यो. प्र. ६१

५. यो. प्र. ५६

पद्मलेश्या—हरिद्रा के समान पीले, मधु से अनन्तगुण मीठे कर्म-पुद्गलों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न परिणाम ।^१

परंज्योति—परम प्रकाश-स्वरूप ।^२

परंतत्त्व—निर्वाण ।^३

परं ब्रह्म—आत्मगुणों के परम वृद्धिगत एवं विकसित होने के कारण व्यापक और विशाल । सिद्धात्मा का अद्वैत वेदांत-सम्मत अभिधान ।^४

पर—समाधि का नामान्तर ।^५

परपदारूढ—परम पद या मोक्ष में अवस्थित ।^६

परपुरप्रवेश—अन्य के मृत शरीर में आत्मा का प्रवेश करना, परकायप्रवेश ।^७

परबोधनिबन्धन—परम बोध का हेतु । बला दृष्टि में विद्यमान साधक की तीव्र तत्त्व-शुश्रूषा तथा शुभ भावमय के फलस्वरूप जो कर्मक्षय होता है, वह योगदृष्टिसमुच्चय के अनुसार परम बोध का हेतु है ।^८

१. ध्या. श. ६६

२. यो. प्र. २६

३. तत्त्वक्षणाविसंवादान्निराबाधमनामयम् ।

निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगतः ॥ —यो. दृ. स. १३१

वह परम तत्त्व, जिसके मूल लक्षण में कोई विवाद नहीं है, सब बाधाओं में अतीत, देहातीत होने से समस्त द्रव्य-रोगों से—शारीरिक बीमारियों से रहित, विशुद्ध आत्म-स्वरूप में संस्थित होने के कारण भाव-रोगों—राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारों से शून्य—सर्वथा स्वस्थ, निष्क्रिय-कर्म हेतुओं का संपूर्णतः ध्वंस हो जाने के कारण सर्वथा क्रियारहित है । वहां न जन्म का संयोग है और न मृत्यु आदि का भी ।

४. यो. दृ. स. १३०

५. यो. बि. ४२२

६. एवं ध्यात्वा स्वमात्मानं स्वकाये कायवर्जितम् ।

ध्येयः परपदारूढः परमात्मा निरंजनः ॥ —यो. प्र. २२

अपने शरीर में अशरीरी आत्मा का चिन्तन कर साधक को परम-पद-प्राप्त, निर्विकार परमात्मा का ध्यान करना चाहिये ।

७. ज्ञाना. २६.१००

८. श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तिः ।

फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात् परबोध-निबन्धनम् ॥ —यो. दृ. स. ५४

यदि शास्त्र-श्रवण का सुयोग न मिल पाए तो भी तत्त्व सुनने की उत्कंठा रखना शुभ-भावात्मक प्रवृत्ति है । उससे कर्मक्षयात्मक फल निष्पन्न होता है, जो उत्तम ज्ञान का हेतु है ।

परमद्युतिदर्शी—स्वस्वरूपात्मक परम क्रांति—दिव्य ज्योति का दर्शन, अनुभवन करने वाला ।^१

परमशुक्ललेश्या—शुक्ललेश्या का चरमोत्कृष्ट रूप, जिसमें सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान सघता है ।^२

परमसंवर—उत्कृष्ट संवर । समस्त कल्पनाओं के जाल का वर्जन कर मन को निश्चयतया आत्म-स्वरूप में टिकाना ।^३

परमहंस—परमात्मा, परम चिन्मय ।^४

परमाक्षर—परम अविनश्वर, शाश्वत ।^५

परमात्मनिष्ठ—परमात्म-स्वरूप का संवेदक ।^६

१. अ. सा. ६.१३८

२. ध्या. श. ८६

३. विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।

यदा धत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ॥

—ज्ञाना. २ संवरभावना

संकल्प-विकल्प के जाल का परित्याग कर जब मुनि अपना मन आत्म-स्वरूप में स्थिर करता है, टिकाता है, तब उसके परम संवर निष्पन्न होता है ।

४. तद्धर्मं तद्व्रतं ध्यानं तत्तपो योग एव सः ।

ह एव हि पदारोहो न यत्र क्लिश्यते मनः ॥

—यो. प्र. ५३

वही धर्म, वही व्रत, वही ध्यान, वही तप, वही योग और वही पदारोह—साधनात्मक उच्च पद वास्तविक है, जहां साधक का मन क्लेश अनुभव नहीं करता ।

५. निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्तं परमाक्षरम् ।

निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥

—ज्ञाना. १८.३४

आत्मन् ! तू अपने आप में स्थित होता हुआ अपने समस्त-क्लेश-वर्जित, अमूर्त, परमोत्कृष्ट, अविनश्वर, निष्प्रपञ्च—विकल्पातीत, इन्द्रियातीत, स्वरूप का दर्शन कर ।

६. मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियं च,

संसारदुःखजननीजननाद्विमुक्तः ।

ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठः,

तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥

—स. श. १०५

इस समाधितन्त्र (समाधिगतक) को अधिगत कर इसका परि-

परमानन्दनिर्वृत—आध्यात्मिक आनन्द-विभोर ।^१

परमार्थ—वस्तुस्थिति, याथार्थ्य ।^२

परमार्थाव्यवस्थिति—मुख्य अर्थ की अव्यवस्था ।^३

परमसंविग्न—अत्यन्त संवेग या वैराग्ययुक्त ।^४

परमेष्ठी—वीतराग, परमात्मा ।^५

परलोकविधि—परलोक सम्बन्धी विषय ।^६

शीलन कर परमात्मनिष्ठ पुरुष पर-पदार्थ में परमात्मबुद्धि, अहं बुद्धि, जो संसार-आवागमन रूप दुःख की जनयित्री (जन्म देनेवाली) है, का परित्यागकर जन्म-मरण से छूट जाता है, परमात्मपद प्राप्त कर अपने ज्योतिर्मय, आनन्दमय स्वरूप में अधिष्ठित हो जाता है ।

१. प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।

बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द-निर्वृतम् ॥

—स. श. ३२

मैं (आत्मा) अपने को विषयों से प्रच्युतकर—हटाकर मुझमें स्थित अपने ज्ञानमय, परम आनन्दमय स्वरूप में अवस्थित हूं ।

२. यो. द. स. ७२

३. अ. सा. ५.१७१

४. अहवा ओहेणं चिय भणियविहाणाओ चेव भावेज्जा ।

सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसंविग्गा ।

—यो. श. ७८

परमसंविग्न—अत्यन्त वैराग्यशील साधक शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुरूप सामूहिक रूप में प्राणीमात्र के प्रति मैत्री आदि भावनाओं से अनुप्राणित रहे ।

५. निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।

परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥

—स. श. ६

निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परात्मा, परमात्मा, ईश्वर एवं जिन इत्यादि परम आप्त पुरुष की संज्ञाएं हैं ।

६. परलोकविधौशास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते ।

आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

—यो. बि. २२१

आसन्न-भव्य—शीघ्र मोक्षगामी, मतिमान्, श्रद्धा का धनी पुरुष परलोक-सम्बन्धी विषयों में शास्त्र के सिवाय और किसी का सहारा नहीं लेता ।

परा—आठ योग-दृष्टियों में अन्तिम—आठवीं दृष्टि । जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, यह आत्मविकास की परा कोटि—सर्वोत्कृष्ट स्थिति है, जहाँ पहुँचने पर योगी का अपना साध्य सध जाता है । आचार्य हरिभद्र ने इसे असंगानुष्ठान पद से अभिहित किया है, जिसका तात्पर्य सर्वथा आसक्तिशून्य दशा है । इस दृष्टि में योग का आठवां अंग—समाधि सिद्ध हो जाती है ।^१

पराचीन—दूरगंत ।^२

परात्पर—पर से सर्वथा अतीत, स्वरूपप्रतिष्ठ ।^३

परात्मा—परमात्मा का नामान्तर ।^४

परानन्द—अत्यन्त स्थिर, सुलीन चित्त की परमानन्दमयी दशा ।^५

परार्थकरण—शुद्ध भावना से, अनासक्त भाव से संपादित परोपकार ।^६

परार्थसाधक—अहिंसा आदि यमों के परम उत्कृष्ट रूप में सिद्ध हो जाने पर सिद्धियोग प्राप्त साधक का वह असाधारण व्यक्तित्व, जो सन्निधि में आने मात्र से औरों के जीवन में परिवर्तन ला दे । उसके सान्निध्य में आने वालों की अशुभ वृत्तियाँ तत्क्षण मिट जाती हैं ।^७

परिच्छेद—ज्ञानाधिगम, बोध-प्राप्ति ।^८

१. यो. दृ. स. १७८

२. यो. प्र. ११६

३. यो. प्र. २६

४. स. श. ६

५. यो. शा. १२.४

६. बीजं चात्य परं सिद्धमवन्ध्यं सर्वयोगिनाम् ।

परार्थकरणं येन परिशुद्धमतोऽत्र च ॥

—यो. दृ. स. ८६

शुद्ध भावना से निष्पादित परोपकार सद्आचार का—श्रुतशील तथा समाधि का उत्तम बीज, सब योगियों को सिद्ध तथा अमोघ फलप्रद है ।

७. परार्थसाधकं त्वेतत् सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः ।

अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

—यो. दृ. स. २१८

शुद्ध अन्तरात्मा की अचिन्त्य—अनिर्वचनीय शक्ति के सहारे जिस द्वारा दूसरों का उपकार सधता जाए, वह यम सिद्धि-यम है ।

८. सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्वयोगतः ।

तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदातिः ॥

न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभ-ज्ञान-संगतः ।

सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥

—यो. दृ. स. ७-८

परिणत—परिपक्वताप्राप्त ।^१

परिणामित्वसंगति—आत्मा के परिणमनशीलता के सिद्धांत का स्वीकार ।^२

परिपाक—जीव एवं कर्म-पुद्गलों के संयोग को मोक्षानुकूल परिपक्व अवस्था ।^३

परिष्कार—योग-साधना में उपयोगी, सहायक साधन ।^४

परिशातना—उत्सर्ग ।^५

परिशुद्ध-चित्तरत्न—वह योगी, जिसका चित्तरूपी रत्न अत्यन्त शुद्ध या निर्मल है ।^६

परिलब्ध—कर्म-परिक्षय के उपाय ।^७

शास्त्र द्वारा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान आदि भलीभांति अधिगत हो जाएं तो इन्द्रिय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का उद्भव होगा। उससे सर्वज्ञता सिद्ध होगी। फलतः मुक्तता प्राप्त होगी। वास्तव में यह तथ्यपूर्ण नहीं है।

प्रतिभ ज्ञान-प्रतिभा अथवा दिव्य आत्म-ज्योति से आविर्भूत ज्ञान आत्मानुभूति से जनित अन्तरालोक से युक्त सामर्थ्य-योग ही सर्वज्ञत्व आदि का साधन है। वह शब्दों द्वारा अवाच्य—अनिर्वचनीय है।

१. एयम्मि परिणयम्मो पवत्तमाणस्स अहियठाणेमु।

एस विही अइनिउणं पायं साहारणो नेओ ॥

—यो. श. ३८

योग-साधना के सन्दर्भ में जीवन में परिपक्वता प्राप्त कर लेने के पश्चात् आगे के उत्तम गुणस्थानों में प्रवर्तन—अधिरोहण करते हुए साधकों के लिए प्रतिपादित विधिक्रम प्रायशः साधारण—सब के लिए समान है, ऐसा समझना चाहिए।

२. यो. वि. ४८२

३. यो. वि. १६

४. यो. वृ. स. ५५-५६

५. का. श. १४६५

६. परिसुद्धचित्तरयणो चएज्ज देहं तहंत काले वि।

आसन्नमिणं नाउं अणसणविहिणा विसुद्धेणं ॥ —यो. श. ६६

रत्न के सदृश अत्यन्त निर्मल चित्तयुक्त योगी को अपना अवसान (मृत्यु-काल) समीप जानकर विशुद्ध अनशन-विधि द्वारा—उत्तम परिणामों से आभरण अनशन स्वीकार कर देह-त्याग करना चाहिए।

७. अध्या. ३.८

परीषह—कष्ट, प्रतिकूल स्थितियां ।^१

पर्यंकासन—दोनों जंघाओं के नीचे के भाग पैरों के ऊपर रखने तथा दाहिना और बायां हाथ नाभि के पास क्रमशः दक्षिण एवं उत्तर में रखने से पर्यंकासन बनता है ।^२

पर्यय—द्रव्य का पर्याय, अवस्थान्तर ।^३

पर्याप्त—आहार आदि पर्याप्ति युक्त, परिपूर्ण—परिपुष्ट अवयव-निष्पत्ति हेतु अपेक्षित पीद्गलिक सामग्री-शक्ति-समवेत ।^४

पर्याय—द्रव्य की अवस्था ।^५

पत्योपमत्तथक्त्व—दो से नौ पत्योपम तक के बीच की कोई एक अवधि ।^६

पवनवायु—यह वायु-तत्त्व से सम्बद्ध है । इसका वर्ण कृष्ण है । यह कहीं-कहीं उष्ण तथा कहीं-कहीं शीतल होता है । यह निरन्तर तिरछा छः अंगुल-प्रमाण प्रवहणशील होता है ।^७

१. यो. शा. ३.१५२

२. स्याज्जंघयोरधोभागे पादोपरि कृते यदि ।

पर्यंको नाभिगोत्तान-दक्षिणोत्तरपाणिकः ॥ —यो. शा. ४.१२५

जंघाओं के अधस्तन—नीचे के भाग पैरों के ऊपर रखने एवं दक्षिण और वाम हस्त नाभि के निकट ऊपर की ओर दक्षिण-उत्तर में रखने पर जो दैहिक स्थिति बनती है, उसे पर्यंकासन कहते हैं ।

३. यो. मा. १४

४. यत्पर्याप्तस्तथा संज्ञी पंचाक्षेऽवयवान्वितः ।

तिर्यक्ष्वपि भवत्यंगी तन्न स्वल्पाशुभक्षयात् ॥

—ज्ञाना. २ बोधिदुर्लभ भावना ३

यदि जीव कदाचित् त्रस योनि भी प्राप्त कर ले तो पर्याप्तियां (आहार-पर्याप्ति, शरीर-पर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, भाषा-पर्याप्ति, मनःपर्याप्ति) का पूर्णतः प्राप्त होना कम पुण्योदय से संभव नहीं है । यदि वैसा हो भी जाए तो फिर संज्ञी—समनस्क पंचेन्द्रिय पशु-शरीर पाना और भी दुर्लभ है । वैसा भी हो तो संपूर्ण अवयवयुक्त होना तो बहुत ही कठिन है ।

५. ध्या. श. ५२

६. यो. बि. ३५२

७. उष्णः शीतश्च कृष्णश्च वहन् तिर्यगनारतम् ।

षडंगुलप्रमाणश्च वायुः पवनसंज्ञितः ॥

यो. शा. ५.५०

पवन वायु (वायु-तत्त्व) कहीं गर्म और कहीं ठण्डा होता है । वह कृष्ण वर्ण युक्त है । वह निरन्तर छः अंगुल प्रमाण तिर्यक् प्रवहण-शील रहता है ।

पवनाक्रान्त—चारों ओर से वायु द्वारा वेष्टित ।^१

पश्यक—आत्मद्रष्टा ।^२

पाणु—काय ।^३

पातशक्त्यनवेद्य—वे बाह्य चमत्कारपूर्ण सिद्धियाँ, जिनसे आत्मा का पतन होता है ।^४

पादसम—पद्य के एक चरण के स्मरण-समान ।^५

पापसखा—पाप का मित्र—भोग-समवाय, जिसकी फल-प्रसूति पापरूप में घटित होती है ।^६

१. स्तिग्धांजनधनचठायं सुवृत्तं बिन्दुसंकुलम् ।

दुर्लक्ष्यं पवनाक्रांतं चंचलं वायुमण्डलम् ॥

—यो. शा. ५.४५

वायव्य मंडल चिकने काजल तथा बादल के सदृश श्याम कांति-युक्त, गोल, बीच में बिन्दु चिह्न सहित, कठिनाई से लक्षित किये जा सकने योग्य, चारों ओर पवन (पवन बीज “य”) से परिव्याप्त एवं चंचल है ।

२. ज्ञा. सा. अनात्मशंसाष्टक ६

३. का. श. १४६०

४. सिद्ध्यन्तरस्य सद्बीजं या सा सिद्धिरिहोच्यते ।

एकान्तिक्यन्यथा नैव पातशक्त्यनुबेधतः ॥

—यो. बि. २३३

वह शक्ति, जो उत्तम गुणयुक्त सिद्धि की प्राप्ति में बीजरूप-कारणरूप होती है, जो एकांततः जीवन में सफलता प्राप्त कराती है, सिद्धि कहलाती है । किन्तु वह बाह्य चमत्कृतिजनक सिद्धि, जिससे आत्मा का अधःपतन होता है, वास्तव में सिद्धि नहीं है ।

५. का. श. १५५३

६. न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मीर्यथानन्दाय धीमताम् ।

तथा पापसखा लोके देहिनां भोगविस्तरः ॥

—यो. दृ. स. १५६

जैसे प्रज्ञाशील पुरुषों के लिए अलक्ष्मी जिसकी सखी है, लक्ष्मी, जिसके साथ अलक्ष्मी रहती है, अर्थात् जिसकी परिणति अलक्ष्मी में होती है, कभी आनन्ददायक नहीं होती, (क्योंकि उसका परिणाम दुःख के साथ जुड़ा है), उसी प्रकार भोग-विस्तार, जो पाप-सखा है, जिसके साथ पाप लगा रहता है, जिसका फल पापरूप है, प्राणियों के लिए कभी आनन्ददायक नहीं होता ।

पापसूत्र—हिंसा आदि पाप-प्रवृत्ति-निरूपक शास्त्र ।^१

पापसूदन—तप का एक विशेष भेद ।^२

पापास्रव—अशुभ आस्रव, जिससे पाप-कर्म संचित होते हैं ।^३

पारमार्थिक—आप्त पुरुष, राग-द्वेष से अतीत, सर्ववित्, सर्वदर्शी, स्वरूपा-धिष्ठित ।^४

१. नर्मकौतुककौटिल्यपापसूत्रोपदेशकाः ।

अज्ञानज्वरशीर्णां मोहनिद्रास्तचेतनाः ॥

अनुद्युक्तास्तपः कर्तुं विषयग्रासलालसाः ।

ससंगाः शंकिता भीता मन्येऽभी देववंचिताः ।

एते तृणीकृत-स्वार्था मुक्ति-श्री-संग-निःस्पृहाः ।

प्रभवन्ति न सद्ध्यानमन्वेषितुमपि क्षणम् ॥

—ज्ञाना. ४.४८-५०

जो हास-परिहास, कुतूहल, कुटिलता एवं हिंसा आदि पापपूर्ण प्रवृत्तियों के परिपोषक शास्त्रों का उपदेश करते हैं, अज्ञानरूपी ज्वर से आक्रांत होकर जिनके अंग शीर्ण—पीडित हैं, आत्मा विकृत है, मोहरूप निद्रा में जो अपनी अन्तश्चेतना को भूल चुके हैं, जो तपश्चरण करने में अनुद्यत हैं—उद्यम-रहित हैं, जो भोग्य विषयों की अत्यधिक लिप्सा से ग्रस्त हैं, जो आसक्तियों से आपूर्ण हैं, जो सत्य-तत्त्व में शंकित—संदिग्ध हैं, सदा भयभीत रहते हैं, मानो देव द्वारा वंचित हैं, जो अपने यथार्थ हित को तृण के समान तुच्छ मानते हैं, जिनके मुक्तिरूपी-लक्ष्मी की सन्निधि प्राप्त करने में कोई स्पृहा नहीं है, वे क्षणमात्र भी उत्तम ध्यान का अन्वेषण करने में, उसे साध पाने में समर्थ नहीं हो सकते ।

२. यो. बि. १३१

३. अपवादास्पदीभूतमसन्मार्गोपदेशकम् ।

पापास्रवाय विज्ञेयमसत्यं परुषं वचः ॥

—ज्ञाना. २ बोधिबुल्लभ भावना ३

अपवादास्पद—तिन्दापूर्ण, असत् मार्ग का उपदेशक, असत्य एवं कठोर वचन पापास्रव का कारण है ।

४. सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि ।

स एक एव सर्वत्र व्यक्ति-भेदेऽपि तत्त्वतः ॥

—यो. दू. स. १०३

सर्वज्ञ के नाम से जो कोई भी पारमार्थिक या आप्त पुरुष हों, व्यक्तिगत रूप में नाम-भेद होते हुए भी तत्त्वतः सर्वत्र ऐक्य ही है ।

पार्थिवी—पिण्डस्थ ध्यान में पृथ्वी को आधार मानकर धारणा की एक विशेष परिकल्पना ।^१

पिण्डस्थ—पार्थिवी, आग्नेयी, माखती, वारुणी तथा तत्त्वभू—इन धारणाओं के आधार पर पिण्डात्मक अवलम्बन के सहारे किया जाने वाला ध्यान ।^२

पिगला—दाहिनी ओर की नाड़ी । इसमें सूर्य का स्थान माना गया है ।^३

पिहितज्योति—आच्छादित अन्तर्ज्योति-युक्त ।^४

१. तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत् क्षीराब्धिं तत्र चाम्बुजम् ।

सहस्रपत्रं स्वर्णाभं जम्बूद्वीपसमं स्मरेत् ।

तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिंगप्रभांचितम् ।

स्वर्णाचलप्रमाणां च कर्णिकां परिचिन्तयेत् ॥

श्वेतसिंहासनासीनं कर्मनिर्मूलनोद्यतम् ।

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र पार्थिवी धारणेत्यसौ ॥

—यो. शा. ७.१०-१२

तिर्यक् लोक (वह भूमंडल, जिस पर हम रहते हैं, जो एक रज्जु-प्रमाण विस्तीर्ण है) के समान विस्तृत क्षीरसागर का चिन्तन करना चाहिए । उसमें (एक लक्ष योजन विस्तीर्ण) जम्बूद्वीप के समान स्वर्ण-सदृश आभामय, एक सहस्र पंखुड़ी युक्त कमल का चिन्तन करना चाहिए । उस कमल के किजल्क-समूह के भीतर देदीप्यमान पीत-प्रभायुक्त, मेरु पर्वत के सदृश (एक लक्ष योजन उच्च) कर्णिका का चिन्तन करना चाहिए । उस कर्णिका पर श्वेत सिंहासन पर समासीन, कर्मों के निर्मूलन—समूल उच्छेद करने में उद्यत—तत्पर आत्मा का—अपने आपका चिन्तन करना चाहिए ।

यह चिन्तन-विधा पार्थिवी धारणा कहलाती है ।

२. यो. शा. ५.६१

३. पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।

चतुर्धा ध्येयभाम्नातं ध्यानस्थालम्बनं बुधैः ॥

—यो. शा. ७.८

जिसका सहारा लेकर ध्यान किया जाए, विद्वानों ने वह आलम्बन, ध्येय चार प्रकार का बतलाया है—१. पिण्डस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ एवं ४. रूपातीत ।

४. बहिस्तुष्यति भूदात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।

तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकोतुकः ॥

—स. श. ६०

अज्ञानी की अन्तर्ज्योति—आत्मज्योति अवरुद्ध—आवृत (ढकी

पीतलेण्यां—हिंगुल के समान रक्त तथा परिपक्व आम के रस से अनन्तगुण मधुर कर्म-पुद्गलों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न परिणाम ।^१

पुण्याशय—पुण्यरूप शुभ आशय या शुभोपयोग ।^२

पुन्दरवायु—यह पृथ्वी-तत्त्व से सम्बद्ध है । यह पीत वर्ण का बताया गया है । इसका स्पर्श कुछ-कुछ उष्ण माना गया है । यह स्वच्छ होता है । नासिक के रन्ध्र को आपूर्ण कर यह शनैः शनैः आठ अंगुल बाहर तक बहता है ।^३

पुरुष—आत्मा का नामान्तर ।^४

पुरुषरसरति—आत्मस्वरूपानुभूति के रस में अनुराग ।^५

पुरुषाद्वैत—केवादाद्वैत वेदांत में मात्र एक ही आत्मा का स्वीकार ।^६

पुरुषार्थ-निबन्धन—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि का आधार ।^७

हुई) रहती है । इसलिए वह बाहर—बहिर्जगत् में परितोष मानता है । जिसकी आत्मा प्रबुद्ध—प्रबोधयुक्त है, वह बाह्य वैभव को कौतुक—एक खेल, मजाक समझता है । वह अपनी अन्तरात्मा में परितुष्ट रहता है ।

१. घ्या. श. ६६

२. ज्ञाना. ३.२८

३. नासिकारन्ध्रमापूर्य पीतवर्णः शनैर्वहन् ।

कवोष्णोऽष्टांगुलः स्वच्छो भवेद्वायुः पुरन्दरः ॥ —यो. शा. ५.४८

पुरन्दर वायु (पृथ्वी-तत्त्व) पीतवर्ण युक्त है । वह कुछ-कुछ उष्ण होता है, स्वच्छ होता है । वह नाक के छिद्र को आपूर्ण कर धीरे-धीरे आठ अंगुल बाहर अवहणशील रहता है ।

४. यो. बि. १७

५. यो. मा. १२

६. यो. बि. ५१३

७. यत् प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।

निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि, पदार्थानामनित्यता ॥

शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थ-निबन्धनम् ।

प्रचंड-पवनोद्धूत-घनाघन-विनश्वरम् ॥

कल्लोल-चपला लक्ष्मीः संगमाः स्वप्न-सन्निभाः ।

वात्या-व्यतिकरोत्क्षिप्त-तूल-तुल्यं च यौवनम् ।

इत्यनित्यं जगद्-वृत्तं स्थिर-चित्तः प्रतिक्रमम् ॥

तृष्णा-कृष्णाहिमन्त्राय निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥

—यो. शा. ४.५७-६०

पुस्तमूर्ति—दीवार पर चित्रित प्रतिमा ।^१

पूरक—बाहर के पवन को खींचकर उसे अपान-द्वार पर्यन्त कोष्ठ में भर लेना
पूरक प्राणायाम है ।^२

पूर्णवायु—नासिका द्वारा वायु का भीतर प्रविष्ट होना पूर्ण वायु कहा जाता है ।^३

पूर्वगत—पूर्वगर्भित ज्ञान से सम्बद्ध ।^४

पूर्वधर—जैन परंपरा में स्वीकृत 'पूर्व' संज्ञक विशिष्ट ज्ञान के धारक ।^५

समस्त जागतिक पदार्थ अनित्य हैं । जो प्रातःकाल दिखाई देता है, वह दोपहर में दिखाई नहीं पड़ता, जो दोपहर में दिखाई देता है, वह रात में दृष्टिगोचर नहीं होता ।

शरीर ही प्राणियों के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि का आधार है, किन्तु वह भी प्रबल वायु द्वारा छिन्न-भिन्न भेदों के सदृश विनश्वर है ।

लक्ष्मी जल की तरंगों के समान चंचल—अस्थिर है । प्रिय-जनों के संयोग स्वप्न के सदृश क्षणभर टिकने वाले हैं । यौवन आंधी (तूफान) द्वारा उत्क्षिप्त—उड़ाई रूई के सदृश है ।

स्थिरचेता पुरुष तृष्णारूपी काले नाग को वश में करने के लिए मन्त्र के तुल्य निर्ममत्व-भाव जगाने हेतु संसार के अनित्य-स्वरूप का चिन्तन करे ।

१. अगाधकरुणाभोधौ मग्नसंविग्नमानसः ।

ऋज्वायत्तं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत् ॥

—ज्ञाना. २८.३७

अगाध करुणा-सागर में निमग्नचेता, मोक्षाभिलाषी योगी अपना शरीर इस प्रकार सीधा और लंबा रखता है, जैसे दीवार पर चित्र अंकित हो ।

२. यो. शा. ५.७

३. यत्त्यजेत् संचरन् वायुस्तद्विक्रममभिधीयते ।

संक्रमेद्यत्र तु स्थाने तत्पूर्णकश्यते बुधैः ॥

—यो. शा. ५.२२६

संचरण करते हुए वायु का बाहर निकलना "रिक्त" तथा नासिका-स्थान से वायु का भीतर प्रवेश करना "पूर्ण" कहा जाता है ।

४. ध्या. श. ८०

५. ध्या. श. ६४

पूर्वसेवा—चरमपुद्गलावर्त से पूर्ववर्ती परावर्तों में सेवित, सेवनीय आचरण ।^१

पृथक्त्व—नाना भाव ।^१

पृथ्वीबीज—पार्थिव बीजाक्षर । 'अ' पार्थिव बीज माना जाता है । कतिपय आचार्य 'ल' को पार्थिव बीज मानते हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने 'ज्ञ' को पार्थिव बीज स्वीकार किया है ।^१

पेहा—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में अन्तिम ।^१

पौष्णकाल—चन्द्र जन्म-नक्षत्र में हो तथा सूर्य अपनी राशि से सप्तम राशि में हो और चन्द्र ने जितनी जन्म राशि भोगी हो, सूर्य ने उतनी ही सप्तम राशि भोगी हो, तब पौष्ण संज्ञक काल होता है । इसका मृत्यु निर्णय में उपयोग किया जाता है ।^१

प्रकृति-परतन्त्र—तीव्र कर्म-प्रकृतियों के वशगत ।^१

प्रज्ञा—आत्मावगाहिनी बुद्धि ।^१

१. अत एवेह निर्दिष्टा पूर्व-सेवाऽपि या परः ।

साऽऽसन्नान्यगता मन्ये भवाभिष्वंगभावतः ॥

—यो. बि. ६७

योग के अन्य विद्वानों ने पूर्व-सेवा का योगांग के रूप में प्रतिपादन किया है । किन्तु जब वह अन्तिम-पुद्गल-परावर्त से पूर्ववर्ती परावर्तों में होती है, तब उसमें सांसारिक आसक्ति विद्यमान रहती है ।

२. यो. मा. २५

३. यो. शा. ५.४३

४. का. श. १५६१

५. यो. शा. ५.८७

६. अनियत्ते पुण तीए एगंते णेव हंवि अहिगारो ।

तप्परतंतो भवरागओ दढं अणहिगारित्ति ॥

—यो. श. १०

यदि तीव्र कर्म-प्रकृति नष्ट नहीं हुई हो तो उसके अधीन हुआ पुरुष अपने पर भव-राग—सांसारिक राग के छाये रहने के कारण निश्चय ही योग का अधिकारी नहीं होता ।

७. नास्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।

शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ॥

—यो. द. स. ४८

तारा दृष्टि में विद्यमान साधकों का चिन्तन-क्रम आगे बढ़ता है—हममें विशिष्ट प्रज्ञा नहीं है और न हमारा शास्त्राध्ययन ही व्यापक है, इसलिए सत्पुरुष ही हमारे लिये प्रमाण हैं—हमें उन्हीं का अनुसरण करना चाहिए ।

प्रज्ञापनप्रिय—धर्मोपदेश सुनने में रुचिशील ।^१

प्रणवनाद—ओङ्कार-ध्वनि ।^२

प्रणिधान—मानसिक जागरूकता—सावधानता, जो साधक बला दृष्टि में प्राप्त कर लेता है ।^३

प्रतिक्रमण—ज्ञाताज्ञाततया आचीर्ण भूलों का प्रायश्चित्त, आत्मस्वरूप में लौटना ।^४

प्रतिक्षेप—प्रतिकार, अवज्ञा, विरोध ।^५

१. लिंगं भागानुसायैष श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः ।

गुणरागी महासत्त्वः सच्छक्यारम्भसंगतः ॥

—यो. बि. ३५३

चारित्र्य—चारित्र-संपन्न पुरुष अध्यात्म-पथ का अनुगामी, श्रद्धाशील, धर्म-प्रज्ञापना—धर्मोपदेश में अभिरुचिशील, गुणों में अनुरागयुक्त, सद्गुणानुष्ठान में पराक्रमी तथा यथाशक्ति धार्मिक कृत्यों में संलग्न होता है ।

२. अ. सा ४.२६

३. अत्वरपूर्वकं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा ।

प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ॥

—यो. द. स. ५१

बलादृष्टि में स्थित योगी के जीवन में स्थिरता का ऐसा सुन्दर समावेश हो जाता है कि उसके गमन आदि कार्यकलाप त्वरा, आतुरता—उतावलेपन से रहित होते हैं । अपाय-परिहार के कारण—दोषों के मिट जाने से उसके सब कार्य मानसिक जागरूकता-युक्त होते हैं ।

४. देवादिबन्दनं सम्यक् प्रतिक्रमणमेव च ।

मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत् सत्त्वादिष्वपरे जगुः ॥

—यो. बि. ३६७

देव, गुरु आदि का सम्यक् रूप में बन्दन, यथाविधि प्रतिक्रमण, आत्म-सम्भारजन, मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य भावना का चिन्तन अध्यात्म है । ऐसा कतिपय लोगों का प्रतिपादन है ।

५. तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाङ्मुखां सताम् ।

युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥

—यो. द. स. १३६

सर्वज्ञों के वास्तविक अभिप्राय को न जानकर उनके धर्मोपदेश का-विरोध करना छद्मस्थ—असर्वज्ञ, अल्पज्ञ जनों के लिए उचित नहीं है । वैसा करने का फल बड़ा अनर्थकारक होता है ।

प्रतिगमविशम—मानसिक चंचलता का नाश ।^१

प्रतिपत्ति—श्रुत एवं ज्ञात विषय पर बना हुआ अपना अभिमत ।^२

प्रतिपन्नक्रिया—स्वीकृत प्रतिज्ञाओं का परिपालन ।^३

१. यो. मा. २२

२. बीजश्रुतौ च संवेगात् प्रतिपत्तिः स्थिराशया ।

तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदयः ॥

—यो. दृ. स. २६

योग-बीजों का श्रवण करने से मन में जो भावना का उल्लास तथा श्रद्धा का उत्कर्ष उत्पन्न होता है, उससे साधक की योगविषयक मान्यता, निष्ठा, सुस्थिर हो जाती है। योग-बीजों के प्रति शुद्ध तथा अति उन्नत उपादेय भाव उद्बुद्ध होता है।

३. लोकापवाद-भीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।

कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥

सर्वत्र निन्दा-संत्यागो वर्णवादश्च साधुषु ।

आपद्यदैक्यमत्यन्तं तद्वत् संपत्तिं नम्रता ॥

प्रस्तावे मित-भाषित्वमविसंवादनं तथा ।

प्रतिपन्न-क्रिया चेति कुल-धर्मानुपालनम् ॥

असद्-व्यय-परित्यागः स्थाने चैतत्-क्रिया सदा ।

प्रधान-कार्ये निर्बन्धः प्रमादस्यविवर्जनम् ॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रौचित्य-पालनम् ।

प्रवृत्तिर्गृहीते नेति प्राणैः कंठगतैरपि ॥

—यो. बि. १२६-३०

लोक-निन्दा से भीति, निर्धन, सहयोगापेक्षी जनों की आदर-पूर्वक सहायता, औरों द्वारा अपने पर किये गये उपकार के लिए कृतज्ञता, बुद्धिमत्तापूर्ण शिष्ट व्यवहार, पर-निन्दा का सर्वत्र—सर्वथा परित्याग, सत्पुरुषों का गुण-स्तवन, विपत्ति में दैन्य-भाव का सर्वथा परिहार, संपत्ति में विनम्रता, संभाषण-वार्तालाप आदि में मित-भाषिता, अविसंवादन—अपनी बात का अपने ही कथन से अपलाप न करना, गृहीत प्रतिज्ञाओं का सम्यक् अनुवर्तन, कुल-परंपरा से चले आते धार्मिक कृत्यों का परिपालन, अनुचित कार्यों में अर्थ-व्यय का परित्याग, उचित कार्यों में अर्थ-व्यय, जीवन के मुख्य कार्य में अत्यधिक तत्परता, प्रमाद-विवर्जन—आलस्य का त्याग, लोकाभिमत समुचित आचार का अनुसरण, सर्वत्र औचित्य का निर्वाह, मृत्यु तक की नीबत आ जाने पर भी निन्दित कर्म में अप्रवृत्ति—ये सब सदाचार में समाविष्ट हैं।

प्रतिपात—साधना में विचलन, साधना-पथ पर आगे बढ़ते योगी का पतन, जो मित्रा, तारा, बला एवं दीप्रा—इन पहली चार दृष्टियों में आशंकित है ।^१

प्रतिभास—बोध ।^२

प्रतिशासन—प्रत्येक धार्मिक आम्नाय, परंपरा ।^३

प्रतिषिद्ध—वे कार्य, जिनका शास्त्रों में निषेध किया गया है ।^४

१. प्रतिपातयुताश्चक्षाश्चतस्त्रो नोत्तरास्तथा ।

सापाया अपि चेतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः ॥

—यो. दू. स. १६

मित्रा, तारा, बला, दीप्रा—ये चार दृष्टियाँ प्रतिपात—भंग या भ्रंशयुक्त हैं । जो साधक इन्हें पा लेता है, वह उनसे गिर भी सकता है । वह अवश्य गिरता ही है, ऐसा नहीं है । पतन की आशंका के कारण ये चार दृष्टियाँ अपाययुक्त या बाधायुक्त कही जाती हैं ।

उत्तरवर्ती चार दृष्टियाँ—स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा—प्रतिपातरहित या विघ्नशून्य हैं । उनमें पहुंचा हुआ साधक फिर प्रपतित नहीं होता ।

२. ध्या. स्त. ४३

३. संसारिणां हि देवानां यस्माच्चित्राण्यनेकधा ।

स्थित्यैश्वर्यप्रभावाच्चैः स्थानानि प्रतिशासनम् ॥

तस्मात्तत्साधनोपायो नियमाच्चित्र एव हि ।

न भिन्न-नगराणां स्यादेकं वर्त्म कदाचन ॥

यो. दू. स. ११३-१४

स्थिति, ऐश्वर्य एवं प्रभाव आदि के कारण प्रत्येक धर्म में सांसारिक देवों के स्थान भिन्न-भिन्न हैं ।

अतः उन देवताओं की आराधना एवं उपासना के प्रकार निश्चय ही भिन्न-भिन्न होते हैं । भिन्न-भिन्न नगरों को जाने का रास्ता एक कभी नहीं होता ।

४. पडिसिद्धेसु य देसे विहिंसु य ईसिरागभावे वि ।

सामादयं असुद्धं सुद्धं समयाए दोसुं पि ॥

—यो. श. १७

शास्त्र-निषिद्ध विषयों में द्वेष, शास्त्रों-विहित (शास्त्रों द्वारा आदिष्ट) विषयों में जरा भी राग सामायिक को असुद्ध बना देते हैं । जो इन दोनों में समता रखता है—समानभाव से बरतता है, उसके सामायिक शुद्ध होती है ।

प्रतिस्त्रोत—संसार-विमुख, आत्मोन्मुख जीवनधारा ।^१

प्रतीतिफलबाधित—आख्यात या चर्चित बस्तु के प्रत्यय एवं फल से रहित ।^२

प्रत्यप्रायफलप्राय—प्रायशः अनिष्टकर एवं क्लेशमय फलप्रद ।^३

प्रत्याख्यान—त्याग ।^४

प्रत्यात्मसाम्य—मूलतः प्रत्येक आत्मा का गुण-सादृश्य ।^५

प्रत्यापत्ति—सांसारिक भोगों तथा अशुभ कर्मों से विरति ।^६

प्रत्यासत्ति—नैकट्य ।^७

प्रत्याहार—योग का पांचवां अंग, जहां इन्द्रियां अपने-अपने विषयों से विरत होकर चित्तस्वरूपाकार हो जाती हैं । प्रत्याहार स्थिरा दृष्टि में सिद्ध होता है ।^८

१. यो. बि. २०२

२. यो. द. स. ६१

३. यो. बि. ३७०

४. हास्यलोभभयक्रोध-प्रत्याख्यानैरनिरन्तरम् ।

आलोच्य भाषणेनापि भावयेत् सूनृतव्रतम् ॥

—यो. शा. १.२७

हास्य—हास-परिहास का प्रत्याख्यान—परित्याग, लोभ का प्रत्याख्यान, भय का प्रत्याख्यान, क्रोध का प्रत्याख्यान, आलोचन—चिन्तन—विमर्शपूर्वक संभाषण—सत्य महाव्रत की ये पांच भावनाएं हैं ।

५. यो. द. स. २५

६. पापसूदनमप्येवं तत्तत्पापाद्यपेभ्यः ।

चित्रमंत्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥

—यो. बि. १३५

भिन्न-भिन्न पापों के प्रायश्चित्त की दृष्टि से तत्तन्निर्देशित भिन्न-भिन्न मंत्रों के जप के साथ विशुद्ध वैराग्य-भाव से किया जाने वाला तप पापसूदन तप कहा जाता है ।

७. प्रत्यासत्ति-समायातैर्विषयैः स्वान्तरंजकैः ।

न धैर्यं स्वलितं येषां ते वृद्धा विबुधैर्मताः ॥ —ज्ञाना. १५.६

मन को रंजित करने वाले भोग्य विषयों के प्राप्त होने पर भी जिनका धैर्य, आत्मसंयम स्वलित नहीं होता—भग्न नहीं होता, जो विषयों में ग्रस्त नहीं होते, विद्वानों ने उन्हीं को वृद्ध माना है ।

८. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।

कृतमभ्रान्तमनसं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥

—यो. द. स. १५४

प्रत्याहृत—प्रत्याहार द्वारा स्थिरीकृत (मन) ।^१

प्रदीर्घभवसद्भाव—अति दीर्घकालवर्ती आवागमनमय संसार-चक्र में परिभ्रमण ।^२

प्रदेश-प्रचय—प्रदेशों—परमाणु-परिमित अंशों का समवाय, अनेक प्रदेश ।^३

स्थिरा दृष्टि प्राप्त होने पर साधक का दर्शन नित्य—अप्रतिपाती—अपतनशील—कभी नहीं गिरने वाला होता है। योग का पांचवां अंग प्रत्याहार वहां सिद्ध हो जाता है। साधक जो भी कार्य करता है, वह भ्रान्तिरहित, निष्पाप और सूक्ष्मबोधयुक्त होता है।

१. प्रत्याहृतं पुनः स्वस्थं सर्वोपाधिविर्जितम् ।

चेतः समत्वमापन्नं स्वस्मिन्नेव लयं व्रजेत् ॥

—ज्ञाना. ३०.५

प्रत्याहार द्वारा स्वस्थ, राग-द्वेष आदि समस्त उपाधियों से, विकल्पों से रहित, समत्व-भावापन्न, समतायुक्त चित्त आत्मा में ही लय हो जाता है।

२. चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः ।

भिन्न-ग्रन्थिश्चरित्रो च तस्यैवैतदुदाहृतम् ॥

प्रदीर्घ-भव-सद्भावान्मालिन्यातिशयात्तथा ।

अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥

—यो. बि. ७२-७३

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान, शुक्लपाक्षिक—तीव्र मोहनीय कर्म के अन्धकार से विवर्जित, भिन्न-ग्रन्थि—जो मोह-प्रसूत कर्म-ग्रन्थि को तोड़ चुका हो, चरित्रो—संयम-पथ पर चरणशील—गतिशील—ये तीन अध्यात्म के अधिकारी बतलाये गये हैं।

इन तीनों के अतिरिक्त अन्य प्राणी दीर्घकालिक भव-भ्रमण, आत्म-परिणामों के अत्यधिक मालिन्य तथा मिथ्या तत्त्वों में दुराग्रह के कारण अध्यात्म की प्राप्ति नहीं कर सकते।

३. तत्र जीवादयः पंच प्रदेशप्रचयात्मकाः ।

कायाः कालं विना ज्ञेया भिन्नप्रकृतयोऽप्यमी ॥ —ज्ञाना. ६.२७

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल—ज्ञानी पुरुषों ने ये छः द्रव्य प्रतिपादित किये हैं।

इन छः द्रव्यों में काल के सिवाय जीव आदि पांच द्रव्य प्रदेश प्रचयात्मक—अनेक प्रदेशों के समूह होने के कारण कहे जाते हैं। (कालाणु एकप्रदेशात्मक हैं, अतः उसका काय में समावेश नहीं होता।) इन षड् द्रव्यों की अपनी भिन्न-भिन्न प्रकृतियां हैं। यह ज्ञातव्य है।

प्रधान—जड़ प्रकृति । सांख्य दर्शन में प्रकृति के लिए प्रधान तथा अव्यक्त शब्द का विशेष रूप से प्रयोग है ।^१

प्रबुद्धात्मा—जागरित आत्मस्वरूपयुक्त ।^२

प्रभा—आठ योगदृष्टियों में सातवीं दृष्टि । इस दृष्टि में इतनी दिव्य आत्म-प्रभा आविर्भूत हो जाती है कि योगी प्रायः ध्यान में लीन रहता है, मोह से अव्याप्त रहता है, उत्तरोत्तर श्रेयस् की ओर बढ़ता जाता है ।^३

१. (क) त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

—सां. का. ११

(ख) हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतंत्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

—सां. का. १०

(ग) दिदृक्षाद्यात्मभूतं तन्मुख्यमस्य निवर्तते ।

प्रधानादिनतेहेतुस्तदभावाच्च तन्नतिः ॥

—यो. द. स. २००

(क) व्यक्त—प्रकृति से उद्भूत तत्त्व—जगत्कार्य तथा प्रधान—अव्यक्त या प्रकृति त्रिगुण—सत्त्व, रजस्, तमस् रूप तीन गुण युक्त, विवेकरहित, विषय-भोग्य, सामान्य, अचेतन—चेतना-विरहित एवं प्रसवधर्मि—विविध परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं । पुरुष इनसे विपरीत—भिन्न है । पुरुष में ये लक्षण प्राप्त नहीं हैं ।

(ख) प्रकृति से उत्पन्न महत् आदि तत्त्व हेतुमत्—कारणयुक्त, अनित्य, अव्यापि—असर्वगत, क्रियाशील, अनेक, आश्रित, लिङ्ग—लय-युक्त, सावयव—शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध मूलक अवयव सहित एवं परतंत्र—पराधीन हैं । अव्यक्त—प्रकृति इनसे विपरीत—भिन्न लक्षण-युक्त है ।

(ग) दिदृक्षा—देखने की इच्छा आदि आत्मा के साथ संपृक्त होने के कारण आत्मभूत हैं, वस्तुतः वे जब तक निवृत्त नहीं होते, तब तक प्रधान—प्रकृति आदि के परिणमन के निमित्त बनते हैं । जब वे निवृत्त हो जाते हैं—आत्मा से हट जाते हैं, तब आत्मा के प्रकृति के अनुरूप परिणमन का अभाव हो जाता है । (वह मुक्ता-वस्था है ।)

२. स. श. ६०

३. यो. द. स. १७०

प्रभावना—धर्मशासन की प्रतिष्ठावृद्धि ।^१

प्रमत्त-संयत—प्रमाद या संयम के प्रति आत्मगत सूक्ष्म अनुत्साह के अस्तित्व से युक्त । षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक ।^२

प्रमा—प्रामाण्य, प्रमाणसिद्ध ज्ञान ।^३

प्रमावपरसंयत—षष्ठ गुणस्थानवर्ती प्रमत्त-संयत साधक ।^४

प्रमोद—सद्गुणशील पुरुषों को देखकर मन में अत्यन्त उल्लसित भाव ।^५

प्रयाणभंग—योगाभ्यास में गतिरोध ।^६

प्रलीन—विलुप्त ।^७

प्रवृत्तचक्र—चक्र के किसी भाग को डण्डे द्वारा घुमा दिये जाने पर वह घूमने लग जाता है, उसी प्रकार जिनकी योगोन्मुख अन्तर्वृत्ति उत्प्रेरक भाव द्वारा अंशतः संस्पृष्ट होने पर भी साधना में सतत गतिशीलता पा लेती है, वे प्रवृत्तचक्रयोगी कहे जाते हैं । उनके योग की संज्ञा प्रवृत्त-चक्रयोग है ।^८

१. यो. शा. २.१६

२. ज्ञाना. २५-३६

३. यो. बि. ५०२

४. ध्या. श. १८

५. सत्तेसु ताव भेत्ति तहा पमोयं गुणाहिएसुं त्ति ।

करुणामञ्जुत्थते किलिस्समाणाविणीएसु ॥

—यो. श. ७६

प्राणीमात्र के प्रति मैत्री, गुणाधिकों—गुणविशिष्ट पुरुषों के प्रति प्रमोद—उनके गुणों को देखकर मन में प्रसन्नता की अनुभूति, क्लिश्यमान—क्लेश पाते हुए—दुःख-पीड़ित प्राणियों के प्रति करुणा-भाव, अविनीत-विनय-वर्जित उद्दण्ड व्यक्तियों के प्रति माध्यस्थ्य—उदासीनता (तटस्थता) रखनी चाहिए ।

६. यो. दू. स. २०

७. यो. शा. १२.४२

८. प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।

शेषद्वयाधिनोऽत्यन्तं शुभ्रूषादिगुणान्विताः ॥

—यो. दू. स. २१२

जैसे चाक के किसी भाग पर डंडा सटाकर उसे घुमा दिया जाए तो वह सारा का सारा खुद घूमने लगता है, वैसे ही जिनका योगरूप चक्र उनके किसी अंग के स्पर्श द्वारा प्रेरित कर दिया जाता है तो वह सारा का सारा गति में प्रवृत्त हो जाता है, वे प्रवृत्तचक्र योगी होते हैं ।

प्रवृत्ति—योगी का प्रशान्त भावपूर्वक साधना-पथ पर यथावत् रूप में आगे बढ़ते जाना । योगविशिका में बताये गये योग के भेदों में यह (प्रवृत्ति योग) एक है ।^१

प्रवृत्ति—सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष या आत्मा का विजातीय द्रव्य-प्रकृति से सम्बन्ध ।^१

प्रशम—भोगासक्ति, विषयवासना, क्रोध, द्वेष आदि दुश्चरण का उपशम । आचार्य हरिभद्र द्वारा इच्छा-योग आदि के सध जाने पर साधक के जीवन में प्रकट होने वाले अनुभवाओं की चर्चा के प्रसंग में बतलाया गया है कि सिद्धि-योग के सध जाने पर प्रशम—प्रशान्त भाव उदित होता है ।^२

प्रशान्तवाहिता—असंगानुष्ठान, निरासक्त प्रशान्त जीवनधारा ।^३

प्रशान्तवृत्ति—अत्यन्त शान्त भावपूर्ण वर्तन ।^४

प्रशान्ति—अत्यन्त शान्त भावपूर्ण क्रियाशीलता ।^५

प्रसत्ति—सामीप्य ।^६

उनके इच्छा-यम एवं प्रवृत्ति-यम सिद्ध हो चुकते हैं । बाकी के स्थिर-यम तथा सिद्धि-यम—इन दो को प्राप्त करने की वे उत्कंठा लिये रहते हैं । वे शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की तीव्र भावना आदि से युक्त होते हैं ।

१. इषिकको य चउद्धा इत्थ पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।

इच्छापवित्तिथिरसिद्धिमेयओ समयनीइए ॥

—यो. वि. ४

योगसिद्धांत के अनुसार तत्त्वतः स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन एवं अनालंबन योग में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धि के रूप में चार-चार भेद होते हैं ।

२. यो. वि. १८

३. यो. वि. ८

४. यो. द. स. १७६

५. यो. वि. २१४

६. यो. श. ३४

७. बाह्यात्मानमपास्य प्रसत्तिभाजान्तरात्मना योगी ।

सततं परमात्मानं विचिन्तयेत्तन्मयत्वाय ॥

—यो. शा. १२.६

योगी बहिरात्मभाव का परित्यागकर अंतरात्मा की सन्निधि—सामीप्य प्राप्त करे । तन्मयत्व—परमात्मभाव प्राप्त करने हेतु परमात्मा का सतत चिन्तन करे, ध्यान करे ।

प्राकृतभाव—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मूलक विषय ।^१

प्राज्ञ—विशिष्ट बुद्धिशील मनीषी ।^२

प्राणायाम—योग का चौथा अंग, जो प्राणवायु के रेचन, पूरण, कुम्भन के विशेष वैज्ञानिक क्रमोपक्रम पर आधारित है। यह दीप्रा दृष्टि में सिद्ध होता है। इस श्वास-प्रश्वासमूलक प्राणायाम को जैन योग में बाह्य प्राणायाम के रूप में स्वीकार किया गया है। तदनुसार पर-भाव का रेचन, स्वभाव—अन्तरात्मभाव का पूरण, तन्मूलक परिण-मन का कुम्भन—अपने में स्थिरीकरण—यह आभ्यन्तर प्राणायाम या भाव-प्राणायाम है ।^३

प्राणेश—श्वासोच्छ्वास का स्वामी, प्राणायाम में निष्णात ।^४

प्रातेभ—प्रतिभा—क्षयोपशम से निष्पन्न असाधारण आत्मज्योति से आविर्भूत (ज्ञान) ।^५

१. प्राकृतेष्विह भावेषु येषां चेतो निरुत्सुकम् ।

भवभोगविरक्तास्ते भवातीतार्थयाधिनः ॥ —यो. दू. स. १२७

प्राकृत भावों—शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध मूलक विषयों में जिनका चित्त अनुत्सुक, विरक्त रहता है, जिनको सांसारिक भोगों से विरक्ति होती है, वे भवातीत—अर्थयायी—परम तत्त्व-वेत्ता कहलाते हैं ।

२. ज्ञाथेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता प्राज्ञः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

—यो. दू. स. १४६

यदि युक्ति एवं तर्क द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थों का ज्ञान हो जाता तो प्रज्ञाशील, तार्किक पुरुष इतने लम्बे समय में उन पदार्थों के विषय में अवश्य कोई निश्चय कर पाते, किन्तु आज तक ऐसा नहीं हो सका। (अतीत के सदृश वर्तमान में भी उन विषयों पर वाद-विवाद, खंडन-मंडन आदि उसी जोश के साथ चलते हैं ।)

३. प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।

तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोध-विवर्जिता ॥ —यो. दू. स. ५७

दीप्रा दृष्टि में स्थित साधक के योग का चौथा अंग—प्राणायाम सिद्ध हो जाता है। साधक का चित्त योग से उत्थित नहीं होता—उधर से उठता नहीं, हटता नहीं, और कहीं नहीं जाता। वहां तत्त्व-श्रवण फलित होता है। किन्तु तब तक सूक्ष्मबोध प्राप्त नहीं होता।

४. यो. मा. ३

५. यो. दू. स. ७-८

प्रातिहार्य—तीर्थंकरों के आठ अतिशय—१. अशोक वृक्ष, २. देवों द्वारा आकाश से पुष्प-वृष्टि, ३. दिव्य ध्वनि, ४. सिंहासन, ५. छत्र, ६. चंवर, ७. भामंडल, ८. दुन्दुभि ।

प्रान्तशुक्लोपपन्न—अन्तिम शुक्लध्यान की प्राप्ति युक्त ।^१

प्राप्ताप्राप्तविकल्प—प्राप्ति, अप्राप्ति के सन्दर्भ में संशयात्मकता ।^१

प्रासुक—अचित्त या निर्जीव पदार्थ ।^४

प्रीति-अनुष्ठान—योग-साधना सम्बन्धी क्रियाओं में अत्यधिक प्रीति, जिससे साधक दूसरी सब क्रियाओं से पराङ्मुख रहता हुआ साधना में अत्यन्त उत्सुक तथा तीव्र भाव से प्रयत्नशील रहे ।^१

१. (क) प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः ।

अवन्ध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यं नियोगतः ॥

—यो. बि. ४२६

(ख) अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरानाम् ॥

(क) उत्कृष्ट-पुण्य-सामर्थ्य के कारण केवली अनेक दिव्य अतिशय (चिह्न) सहित होते हैं। उनकी धर्म-देशना निष्फल नहीं जाती। भव्य प्राणियों का उससे उपकार होता है।

(ख) अशोक वृक्ष, देवों द्वारा आकाश से पुष्प-वृष्टि, दिव्य ध्वनि—अत्यन्त हर्ष के कारण देवों द्वारा गगन-मंडल में किये जाते जयनाद, चंवर, सिंहासन, भामंडल, दुन्दुभि एवं छत्र—तीर्थंकरों के ये आठ अतिशय हैं।

२. यो. मा. ३३

३. यो. वृ. स. ६१

४. नाप्रेक्ष्यसूक्ष्मजन्तूनि निश्चिन्तात् प्रासुकान्यपि ।

अप्युद्यतकेवलज्ञानैर्नान्वृतं यन्निशासनम् ॥ —यो. शा. ३.५३

रात्रि में प्रासुक—अचित्त खाद्य-पदार्थों का भोजन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि तब सूक्ष्म जन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते।

सूक्ष्म जंतुओं को देख पाने में समर्थ सर्वज्ञों ने भी रात्रि-भोजन को आदर नहीं दिया।

५. एयं च पीडभक्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं ।

नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ॥

—यो. बि. १८

प्रीति, भक्ति, आगम एवं असंगता के रूप में सदनुष्ठान चार प्रकार का है। इनमें अंतिम—चौथा (असंगानुष्ठान) अनालंबन योग है।

प्रेक्षण—विशेष रूप से ईक्षण—दर्शन, चिन्तन ।^१

प्रेक्षावान्—सत्, असत् का विवेक रखने वाले पुरुष, जिनकी दृष्टि बाहरी गौण भेदों पर टिकी नहीं होती, जो मूल तत्त्व का संप्रेक्षण करते हैं ।^२

प्रेष्यता—दूसरों की किकरता, गुलामी ।^३

प्रोर्ध्व—अत्यन्त ऊर्ध्व—ऊँचा, लोकाग्रवर्ती सर्वोच्च स्थान ।^४

प्लुष्ट—भस्मीभूत ।^५

फ

फल-प्रकर्षभाव—आत्माभ्युदय में उत्कृष्ट फल-निष्पत्ति ।^१

फलामिसंधि—फल की कामना ।^२

फलबन्धकयोग—आत्मधर्म के साक्षात्कार में उत्तरोत्तर उत्तम फल—सफलता प्राप्ति कराने वाला योग ।^३

१. यो. मा. १६

२. ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन सर्वतः ।

प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विबाध उपपद्यते ॥

—यो. दृ. स. १३२

असंमोह के आधार पर निर्वाण-तत्त्व—मोक्ष-तत्त्व को ज्ञात कर लेने पर विवेक द्वारा सत्, असत् का भेद करने में सक्षम दृष्टियुक्त पुरुषों के लिए उसकी साधना में कोई विवाद उपस्थित नहीं होता ।

३. दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमंगच्छेवं दरिद्रताम् ।

अवतात्तफलं ज्ञात्वा स्थूलस्तेयं विवर्जयेत् ॥

—यो. शा. २.६५

दुर्भाग्य—भाग्यहीनता, भृत्यरूप में पराधीनता, दासता, अंग-छेद एवं दारिद्र्य—ये चोरी के फल हैं । यह जानकर धर्मानुरागी गृहस्थ स्थूल चोरी का वर्जन—त्याग करे ।

४. यो. मा. ३५

५. यो. शा. १२.४२

६. यो. दृ. स. ४६

७. यो. दृ. स. २२१

८. यो. श. ८

ब

बंधन-विरह—कर्म बंधन से मुक्त ।^१

बला—आठ योग-दृष्टियों में तीसरी दृष्टि, जहां योगी के आसन-सिद्धि हो जाती है, तत्त्व-श्रवण में तीव्रतम जिज्ञासा बनी रहती है तथा साधना में चित्त-विक्षेप का अभाव रहता है । यों योगी साधना में पूर्वपिक्षया बलवत्तर स्थिति प्राप्त करता है ।^२

बहुलदोष—हिसानुबंधी, मृषानुबंधी, स्तेयानुबंधी तथा विषय-संरक्षणानुबंधी—
रौद्र ध्यान के इन चार भेदों में बहुलतया प्रवर्तन ।^३

बहुवस्तुसंक्रम—आत्मगत-परगत अनेक वस्तुओं में संचार ।^४

बह्वर्थसंक्रम—अनेक आलम्बनों में संक्रान्ति, संक्रमण ।^५

बाबर काययोग—शरीर की स्थूल प्रवृत्ति ।^६

१. यदि विषयपिशाची निर्गता देहगेहात् ।

सपदि यदि विशीर्णो मोहनिद्रातिरेकः ॥

यदि युवतिकरंके निर्ममत्वं प्रपन्नो ।

भगिति ननु विषेहि ब्रह्मवीथीविहारम् ॥ —ज्ञाना. १५.४७

आत्मन् ! यदि तुम्हारे शरीर रूपी घर से तृष्णा रूपी राक्षसी निकल गई हो, यदि तुम्हारी प्रगाढ मोह-निद्रा टूट गई हो, यदि तरुणी की देह में तुम्हारा ममत्व न रहा हो (उस ओर से तुम निःस्पृह हो गये हो) तो तुम शीघ्र ही ब्रह्मचर्य के पथ पर विहरण (विचरण) करो ।

२. यो. दू. स. २६

३. क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।

बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥ —स. शा. २५

आत्मा बोधस्वरूप—ज्ञानस्वरूप है । जो तात्त्विक दृष्टि से उसका प्रेक्षण—पर्यालोकन करता है, उसके राग, द्वेष आदि सभी विकार नष्ट हो जाते हैं । वैसी स्थिति में उसके लिए न कोई शत्रु होता है, न कोई मित्र ही ।

४. ध्या. श. २६

५. यो. शा. ५.३०

६. लाघवयोगाद् धूमवदलाबुफलवच्च संगधिरहेण ।

बन्धनविरहादेरण्डवच्च सिद्धस्य गतिरुर्ध्वम् ॥

—यो. शा. ११.६०

सिद्ध परमात्मा का जीव लाघव-योग से—अत्यन्त हलकेपन के

बादर मनोयोग—मन की स्थूल प्रवृत्ति ।^१

बाह्याभ्यन्तरीश्री—द्वितीय शुक्ल ध्यान—एकत्व-वितर्क-अविचार के सध जाने पर उत्पन्न होने वाली नौ लब्धियों में एक लब्धि । इससे साधक तथा बाह्य रूप में आश्चर्यकारी श्री—कान्ति या शोभा-युक्त हो जाता है ।^२

बीजमात्र—केवल योगबीज रूप । जहां योग मनोवृत्ति तथा व्यवहार में अभिव्यक्ति नहीं पाता, केवल बीजरूप में अव्यक्त सत्ता लिये विद्यमान रहता है, उसकी संज्ञा योगबीज है ।^३

बीजभृति—योग-बीजों का श्रवण ।^४

कारण धूएं की तरह ऊर्ध्वगति करता है । तुंबिका पर लगे मृत्तिका-लेप हट जाने पर वह जैसे जल पर गति करने लगती है, उसी प्रकार कर्मों के आवरण से मुक्त जीव ऊर्ध्व गति करता है । जैसे खोल के आवरण से मुक्त होकर एरंड का बीज ऊपर की ओर जाता है, उसी प्रकार देह आदि से विमुक्त होकर जीव ऊर्ध्व गति करता है ।

१. यो. शा. ११.५४

२. मुहूर्तत् परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत् ।

बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद् दीर्घाऽपि ध्यानसंततिः ॥

—यो. शा. ४.११६

एक मुहूर्त समय ध्यान में व्यतीत हो जाने के बाद वह ध्यान स्थिर नहीं रह पाता । उससे आगे वाला ध्यान चिन्तन कहा जायेगा अथवा भिन्न आलंबन परिगृहीत करते हुए प्रवृत्त होने पर दूसरा ध्यान कहा जायेगा । अनेक पदार्थों में संक्रमण—एक के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे, यों भिन्न-भिन्न आलंबनों के ग्रहण से ध्यान की लंबी शृंखला भी चल सकती है । (किन्तु निरंतर एक ध्यान एक मुहूर्त से अधिक नहीं चल सकता ।)

३. यो. बि. २७४

४. यस्य येन प्रकारेण बीजाधानादिसम्भवः ।

सानुबंधो भवत्येते तथा तस्य जगुस्ततः ॥

—यो. दू. स. १३५

जैसे किसी विशेष पौधे को उगाने के लिए जमीन में एक विशेष तरह की खाद देना अपेक्षित होता है, उसी प्रकार जिस शिष्य की चित्त रूपी भूमि में संभव बोधरूप बीज का जिस प्रकार विकास तथा परिवर्द्धन हो, उसी प्रकार ज्ञानी जन उसे उपदेश देते हैं ।

बीजसिद्धि—बीज के उत्तरोत्तर विकसित, अभिवर्द्धित रूप वृक्ष की तरह बोधिसत्त्व का ऊर्ध्वगमन ।^१

बीजाधान—चित्त-भूमि में सम्यक् बोधमय बीज का वपन ।^२

बुद्धिलेप—बौद्धिक आसक्ति ।^३

बोधात्मा—समग्र परभाव-रहित, ज्ञानस्वरूप, निर्मल आत्मा को जानने वाला ।^४

बोधि—सम्यक् ज्ञान ।^५

बोधिसत्त्व—सम्यक् ज्ञान-समन्वित व्यक्ति, निर्वाण-प्राप्ति के अनुरूप ज्ञान-चेतना युक्त ।^६

बोन्दि—काय ।^७

ब्रह्मग्रंथि—बाहरी जंजाल ।^८

ब्रह्मद्वार—परमात्म-स्वरूप ।^९

ब्रह्मपुर—ब्रह्मरन्ध्र ।^{१०}

ब्रह्मभूय—ब्रह्मत्व, ब्रह्मभूमि, मुक्ति ।^{११}

१. ध्या. श. ४

२. यो. वि. ३

३. यो. वृ. स. ४५

४. का. श. १४६०

५. यो. बि. २७४

६. यो. बि. २७५

७. यो. मा. ११

८. यो. मा. २७

९. आत्ममनोगुणवृत्तीर्विविच्य यः प्रतिपदं विजानाति ।

कुशलानुबन्धयुक्तः प्राप्नोति ब्रह्मभूयमसौ ॥

—अ. सा. ७.२५

जो पुरुष आत्मा तथा मन के गुणों और वृत्तियों का विश्लेषण कर उनका प्रत्येक पद-स्थान (स्तर) अच्छी तरह जान लेता है, वह मोक्षोपयोगी साधना द्वारा ब्रह्मभाव—मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

१०. यो. शा. ११.५३

११. ब्रह्मस्थो ब्रह्मज्ञो ब्रह्म प्राप्नोति तत्र किं चित्रम् ।

ब्रह्मविदां वचसाऽपि ब्रह्मविलासाननुभवामः ॥

—अ. सा. ७.२६

ब्रह्मस्थ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त कर ले, इसमें क्या आश्चर्य है ? हम तो ब्रह्मवेत्ताओं के वचन द्वारा भी ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं ।

ब्रह्मविलास—चिदानन्द-समुल्लास ।^१

ब्रह्मवीथीविहार—ब्रह्मचर्य के पथ पर विहरण, ब्रह्मचर्य की आराधना ।^२

ब्रह्माध्ययन—आचारांग के आठ अध्ययन ।^३

भ

भंग—क्रम व स्थान की भिन्नता के आधार पर होने वाले भेद ।^४

भंगिक श्रुत—दृष्टिवाद का अंश या अन्य विकल्प प्रधान श्रुत (ज्ञान) ।^५

भक्ति-अनुष्ठान—बाह्य आलम्बन विरहित उपास्य या ध्येय के प्रति अत्यधिक आदरपूर्ण बुद्धि लिये उन क्रियाओं में सोत्साह प्रयत्नशील रहना, जो उन (ध्येय) से सम्बद्ध हैं ।^६

भद्रमूर्ति—ऋजुता, मृदुता, प्रियता आदि सौम्य भावों से ओतप्रोत पुरुष, जिनके व्यक्तित्व से भद्रता मूर्त्त रूप में टपकती है ।^७

१. अ. सा. ७.२६

२. यो. प्र. १२६

३. अध्या. १.५५

४. स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।

संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥

—स. श. ६२

जब तक अज्ञानी जीव शरीर, वाणी और मन को आत्मत्व-बुद्धि से ग्रहण किये रहता है, तब तक वह संसार में—जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकता रहता है । जब उसे आत्मा तथा शरीर आदि की अनुभूति हो जाती है (भेद-विज्ञप्ति हो जाती है) वह निर्वृति—परम शान्ति (निर्वाण) प्राप्त कर लेता है ।

५. का. श. १५००

६. यो. श. १०

७. क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरो भयवान् शठः ।

अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

—यो. दृ. स. ७६

भवाभिनन्दी—संसार में रचा-पचा जीव क्षुद्र—निम्नवृत्ति-युक्त, लाभ-रति—नश्वर सांसारिक सुखों में आसक्त, दीन—आत्म-ओज रहित, ईर्ष्यालु, भयाशंकित, कपटी, अज्ञानी तथा निरर्थक हिसा आदि में संलग्न होता है ।

भद्रासन—आसन विशेष । दोनों पैरों के तल भाग—पगथलियां वृषण-प्रदेश में संपुटित करना, उनके ऊपर एक दूसरी से जुड़ी हुई दोनों हाथों की अंगुलियां रखना—यह दैहिक स्थिति भद्रासन है ।^१

भयवान्—वह आत्मशक्ति रहित पुरुष, जो अपने आपको दीन, हीन एवं सत्त्व-शून्य मानता है, अन्तर्दौर्बल्यवश भयभ्रान्त बना रहता है ।^२

भ्रान्ति—आत्मा के विजातीय द्रव्य से सम्बद्ध होने में कारणभूत भ्रमपूर्ण ज्ञान ।^३

भ्रू—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में उन्नीसवां दोष । भौहों को नचाना ।^४

भवज—संसार या जन्म-मरण रूप आवागमन से उत्पन्न ।^५

भवनित्यत्व—भव—संसार—प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पंचतन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय, पंचमहाभूत के विस्ताररूप जगत् को नित्य मानना ।^६

भवनिर्वेद—संसार से वैराग्य ।^७

भवनगुण्य-दर्शन—संसार की निर्गुणता—असुखकारिता का ज्ञान-चक्षुओं द्वारा अवलोकन ।^८

१. यो. शा. ५.४३

२. यो. दू. स. २०१

३. उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।

भावियोगिहितायोच्चैर्भोहृदीपसमं वचः ॥

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तथा ।

तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवत् गतौ ॥

—यो. बि. ६६-६७

तपश्चरण द्वारा जिनका मालिन्य—पापपुंज नष्ट हो गया हो, ऐसे योग-मार्ग-वेत्ता सत्पुरुषों ने भावि योगियों—योग-साधना में प्रवेशार्थियों के हित हेतु मोह के अन्धकार को मिटाने में दीपक के सदृश वचन उद्भासित किये हैं—कहे हैं, (जो मननीय हैं)—जो तर्क के आधार पर वाद-विवाद करते हुए अपने अपने मतों को निश्चित ठहराते हैं—सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वे तत्त्व-निर्णय तक नहीं पहुँच पाते । वे तैल पँरने वाले उस कोल्हू के बेल की तरह हैं, जो कोल्हू के चारों ओर अनवरत चक्र लगाता रहता है, पर कभी किसी निश्चित मंजिल पर नहीं पहुँचता ।

४. यो. मा. २६

५. यो. दू. स. ३३

६. यो. दू. स. १६८

७. यो. बि. ३५१

८. यो. दू. स. २६

भवबीज-परित्याग—संसार के बीजरूप मोह का परित्याग ।^१

भवभावानिवृत्ति—संसार-भाव की अनिवृत्ति—अपरिणामिता, अपरिवर्तन-शीलता—एकांत-नित्यता ।^२

भवमाता—जन्म-मरणात्मक संसारावस्था की जनयित्री ।^३

भवमोक्षा-प्रतिबद्ध—संसार तथा मोक्ष—दोनों से अप्रतिबद्ध—अनासक्त ।^४

भवयोग—सांसारिक पदार्थ, प्रसंग, भौतिक भोगोपभोग ।^५

भवराम—सांसारिक रागात्मकतामय भाव ।^६

भवरोगी—जन्म, मरण, दुःख, पीड़ा आदि भव-रोगों—सांसारिक जीवन के रोगोपम क्लेशों से आक्रान्त पुरुष ।^७

भवविरह—जन्म-मरण के चक्र से वियोग या पार्थक्य ।^८

भवशक्र—समाधि का नामान्तर ।^९

भव-स्वरूप-विज्ञान—संसार के स्वभाव का विशिष्ट बोध ।^{१०}

१. यो. बि. २०८

२. यो. दृ. स. ६२

३. यो. बि. ४२२

४. ता. इय. आणाजोगो जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्मं ।

एसो च्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य ॥ — यो. श. १०१

अयोगार्थी—जो अयोग गुणस्थान—आत्मा की सर्वोच्च विक-सित दशा—जहां योग—मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियां सर्वथा निरस्त हो जाता है की अभिलाषा रखने वाले साधक को आज्ञा-योग में—शास्त्र-प्रतिपादित विधि-निषेध के अनुसरण में—सम्यक् परि-पालन में यत्नशील रहना चाहिए । इससे भव-विरह—जन्म-मरण के चक्र से वियोग या पार्थक्य तथा सिद्धि-सिद्धावस्था या मोक्ष के साथ अविरह—संयोग निष्पन्न होता है ।

५. यो. दृ. स. २०६

६. यो. श. २६

७. यो. दृ. स. १२६

८. यो. बि. १८

९. यो. बि. ४६६

१०. भवहेतुषु तद्वेषाद् विषयेष्वप्रवृत्तिः ।

वैराग्यं स्यान्निराबाधं भवनैर्गुण्यदर्शनात् ॥ — अ. सा. २.५.६

संसार-वृद्धि के कारणों में अरुचि पैदा होने पर सांसारिक विषयों में अप्रवृत्ति होती है—उस ओर से प्रवृत्ति हटती है । उससे संसार निःसार दीखने लगता है । फलतः निराबाध—बाधारहित, विघ्नशून्य वैराग्य उत्पन्न होता है ।

भवातीतार्थयायी—जगत् से अतीत परमपद—परम तत्त्व, परमात्मभाव अधिगत करने की उत्कण्ठा लिये साधना की यात्रा पर आगे बढ़ने वाले पथिक ।^१

भवान्ध्विरह—भवभ्रमण रूप अंधत्व, जन्म-मरण के चक्र में निपतित करने वाले अज्ञान का अभाव ।^२

भवाभिनंदी—सांसारिक भोगों, आसक्तियों तथा प्रलोभनों में आकण्ठ निमग्न व्यक्ति, जो स्व पर 'पर' का तथा पर पर 'स्व' का आरोप करने की मिथ्या वृत्ति लिये रहते हैं ।^३

भवामिच्छाभाव—सांसारिक आसक्ति का बना रहना ।^४

भवोद्वेग—सांसारिक विषयों, वासनाओं, भौतिक सुखों में उद्वेग—मन में आकुलता का अनुभव करना, वैराग्य-भाव से अनुप्राणित होना ।^५

भव्यत्व—भव्यता, मोक्षोपयोगी अन्तर्योग्यता ।^६

१. यो. दृ. स. ७५

२. ध्या. श. ४६

३. यो. दृ. स. २७

४. महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते ।

अकल्याणवतां पुंसां तथा संसार-वर्धनः ॥

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः ।

भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभागिनः ॥

—यो. बि. १३६-४०

अत्यन्त मोहग्रस्त, कल्याण-वर्जित मनुष्यों का मोक्ष के प्रति द्वेष-विरुद्ध भाव होता है । वह उनके भव-चक्र को बढ़ाने का कारण बनता है ।

जिन सात्त्विक पुरुषों का मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं होता, वे साधुवाद के योग्य हैं । मोह, जो भव-चक्र का बीज है, के परित्याग से वे कल्याण-भागी होते हैं ।

५. स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया ।

चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभवत् ॥

—यो. दृ. स. १८३

जीव अपनी शुद्ध भावमूलक प्रकृति से चन्द्रमा के सदृश है ।

विज्ञान-जीव का स्व-पर-प्रकाशक विशिष्ट ज्ञान (सम्यक् बोध) चांदनी के तुल्य है । ज्ञानावरणादि कर्ममय आवरण मेघ-सदृश है ।

६. यो. बि. ४०७

भव्यसत्त्व—जिन प्राणियों में मोक्षाधिकारिता का बीज सुषुप्त रूप में विद्यमान रहता है, जो मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता रखते हैं, वे भव्य सत्त्व कहे जाते हैं। आचार्य हरिभद्र ने योग-विशिका में इच्छा-योग, प्रवृत्ति-योग, स्थिरता-योग तथा सिद्धि-योग की चर्चा के प्रसंग में बतलाया है कि क्षयोपशम के तारतम्य के आधार पर ये योग असंख्य प्रकार के होते हैं, जिनके अधिकारी भव्यसत्त्व हैं।^१

भस्त्रा—काय।^२

भावकरण—भावक्रिया, मन सहित कायेक प्रवृत्ति करना, मन सहित वाचिक प्रवृत्ति करना।^३

भावग—पर्यायानुगामी।^४

भावना—अधीत शास्त्रों का अनुभावन, आवर्तन, तद्गततत्त्व का अनुस्मरण।^५

भावनामार्ग—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य तथा अनित्यत्व, अशरणत्व, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभत्व—इस प्रकार चार भावनाओं तथा बारह भावनाओं का अभ्यास।^६

भावपुण्य—जीव का शुभ परिणाम।^७

भावमल—आंतरिक त्रिकृत भावनाओं का मालिन्य।^८

१. यो. वि. १८

२. का. श. १४६२

३. का. श. १५६१

४. ध्या. स्त. २३

५. यो. दृ. स. ३०

६. यो. श. २०

७. यः कर्मपुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः।

भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भाक्संवरः॥

—यो. शा. ४.८०

कर्म-पुद्गलों के आदान-ग्रहण का छेद—अवरोध द्रव्य-संवर है तथा भव-भ्रमण की हेतुभूत क्रियाओं का परित्याग भाव-संवर है।

८. आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु।

वैयावृत्यं च विधिवच्छ्रद्धाशयविशेषतः॥

—यो. दृ. स. २६

भावयोगी—जो वस्तुवृत्त्या अध्यात्म-योग में समर्पित है, ऐसे आचार्य आदि उत्तम पुरुषों की शुद्ध भावना के साथ यथाविधि सेवा भी योगबीजों में समाविष्ट है।

भावयोगी—वे उत्तम साधक जिनका अन्तरंग यथार्थतः अध्यात्म-योग में अनु-
स्यूत हो ।^१

भावविभेद—विचारों की भिन्नता ।^२

भाववृत्ति—भावना का अनुवर्तन ।^३

भाववृद्धि—पवित्र भावों का संवर्धन ।^४

भावशत्रु—चित्त की पवित्र भावना, धर्मानुप्राणित सुकुमार वृत्ति आदि का
नाश करने वाले कुतर्क, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आत्मविमुख
भाव ।^५

भावशुद्धा प्रकृति—शुद्ध चेतनभावात्मक स्वभाव ।^६

१. बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत् ।

कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा ॥

—यो. दू. स. ८७

कुतर्क ज्ञान के लिए रोग के सदृश विघ्नकारक, आत्म-शान्ति
का नाशक, श्रद्धा मिटाने वाला तथा अभिमान उत्पन्न करने वाला है ।
वह अनेक प्रकार से चित्त के लिए भाव-शत्रु है ।

२. भवस्वरूपविज्ञानाद् द्वेषान्नर्गुण्यदृष्टिजात् ।

तदिच्छोच्छेदरूपं द्वाग् वैराग्यमुपजायते ॥

—अ. सा. २.५०१

भव-स्वरूप में विशिष्ट ज्ञान से, उसे निःसार जान लेने के
कारण प्रसूत अरुचि से तत्काल वैराग्य उत्पन्न होता है, जो जन्म-
मरण के चक्र में भ्रमण करते रहने की इच्छा का उच्छेदन—नाश
करता है ।

३. यो. बि. २७४

४. यथाप्रतिज्ञमस्येह कालमानं प्रकीर्तितम् ।

अतो ह्यकरणेऽप्यत्र भाववृत्तिं विदुर्बुधाः ॥

—यो. बि. ३८७

जप का कालमान—समयविधि, अपनी अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप
है । जिसकी जितने समय जप करने की भावना हो, वह वैसी प्रतिज्ञा
ले, तदनुसार जप करे ।

विद्वानों का अभिमत है कि इस प्रकार जप करने वाले में ऐसी
विशेषता आ जाती है कि जब वह जप न कर रहा हो, तब उसकी
भाव-वृत्ति—भावना जप में ही रहती है ।

५. यो. दू. स. ७४

६. यो. दू. स. १६२

भावसार—अध्यात्मभावप्रधान ।^१

भावसंवर—जन्म-मरण के हेतुभूत कर्मों का अवरोध ।^२

भावस्तैमित्य—भावात्मक स्थिरता ।^३

भावातिशययोग—उत्तम भावों का संयोग ।^४

भावावधि—स्वभाव की मर्यादा ।^५

भावाविच्छेद—पदार्थों में भावों की अविच्छिन्नता, पर्यायों की शृंखला-बद्धता ।^६

भावित ज्ञान—एकाग्रता पूर्वक चित्त में धारण किया हुआ ज्ञान ।^७

भावियोगी—योगाभ्यास में प्रविष्ट होने के इच्छुक साधनोद्यत पुरुष ।^८

भिन्नग्रन्थि—मिथ्यात्व-संपृक्त कर्म-ग्रन्थि का भेदन किये हुए ।^९

भिन्नात्मा—अपनी आत्मा से भिन्न अर्हत् एवं सिद्ध रूप आत्मा ।^{१०}

१. यो. श. ३१

२. यो. शा. ४.१३०

३. यो. बि. २५६

४. यो. बि. २६०

५. यो. दृ. स. २८

६. यो. बि. ४७६

७. भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।

वर्तिदीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥

—स. श. ६७

जैसे वर्तिका (बत्ती) अपने से भिन्न दीपक की उपासनाकर, समर्पित हो, दीपमय बन जाती है, उसी प्रकार आत्मा अपने से भिन्न परमोत्तमदशापन्न परमात्मा की उपासना कर परमात्म-स्वरूप हो जाती है ।

८. यो. बि. ६७

९. निशानाथप्रतिक्षेपो यथान्धानामसंगतः ।

तद्भेद-परिकल्पश्च तथैवाऽर्वाग्दृशामयम् ॥

—यो. दृ. स. १४०

यदि अन्धे चन्द्रमा का निषेध करें—उसका अस्तित्व न मानें अथवा उनमें भेद-परिकल्पना करें—उसे भिन्न भिन्न प्रकार का बतलाएं तो यह अयुक्तियुक्त है, उसी प्रकार छद्मस्थों (अल्पज्ञों) द्वारा सर्वज्ञ का स्वीकार न किया जाना या उसे भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिपादित किया जाना असंगत है ।

भूतज—पृथ्वी, जल, वायु एवं अग्नि—इन चार भूतों से उत्पन्न ।^१

भूतपूर्व गति—पूर्ववर्ती गतिक्रम, जिसके प्रभाव से उत्तरकाल में भी एक सीमा तक गति की विद्यमानता रहती है ।^२

भेद-परिकल्प—अनेक प्रकार की भेदात्मक कल्पना ।^३

भेदाभ्यास—मन, वाणी और शरीर से आत्मा की भिन्नता का अभ्यास ।^४

भेदाभ्यासनिष्ठित—आत्मा और देह की भिन्नता के अभ्यास में परिपक्व ।^५

भोक्तृभाव—पदार्थ, सुख, दुःख आदि के भोग की वृत्ति ।^६

भौम—पार्थिव मण्डल ।^७

१. का. श. १४६०

२. ध्या. स्त. ५०

३. यो. वि. ७

४. अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥

—स. श. १०२

बिना दुःख—तपश्चरण—आयास आदि द्वारा (काल-लब्धिवश, पूर्व पुण्यवश) प्राप्त ज्ञान (आत्म-ज्ञान) दुःख—उपसर्ग-परीषह आदि आने पर नष्ट हो जाने की संभावना लिये रहता है । अतः मुनि यथा-शक्ति उपसर्ग, परीषह आदि कष्ट समभाव से सहता हुआ तपश्चरण, संयमाराधन द्वारा अपनी आत्मा को अनुभावित करे, अपने ज्ञान एवं आचार को अक्षुण्ण बनाये रखे ।

५. यो. प्र. ३६

६. यो. बि. ५२७

७. शरीरादिभन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।

तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥

—ज्ञाना. ३२.८५

आत्मा शरीर से भिन्न है, यह सुनता हुआ भी, कहता हुआ भी पुरुष तब तक मुक्त नहीं होता, जब तक शरीर एवं आत्मा के भेद-विज्ञान के अभ्यास में वह निष्ठा युक्त, परिपक्व नहीं हो जाता ।

म

मण्डूक-क्षार—भावना की पवित्रता के साथ किये गये तप द्वारा क्षीण हुए दोषों का स्थायित्व बताने हेतु प्रयुक्त दृष्टान्त । ऐसा माना जाता है यदि मेंढक का शरीर जलाकर राख कर दिया जाए तो फिर वह कभी सजीव नहीं होता, चाहे उस पर कितनी ही वर्षा हो जाए । भावना-युक्त तप द्वारा क्षीण किये गये कर्मों की भी यही स्थिति है । वे फिर कभी उभार नहीं पाते ।^१

मण्डूक-चूर्ण—मात्र शारीरिक क्रिया या बाह्य तप द्वारा ध्वस्त किये गये दोषों का अस्थायित्व प्रकट करने हेतु प्रयुक्त दृष्टान्त । ऐसी जन-मान्यता है, मेंढक की देह के टुकड़े टुकड़े कर मिट्टी में मिला दिये जाएं तो भी भूमि पर नूतन वर्षा का जल गिरने पर वे अंग आपस में जुड़कर सजीव हो जाते हैं, मेंढक जीवित हो जाता है । वही स्थिति उन दोषों की है, जो बाह्य तप से अपगत होते हैं ।^२

मतिजाड्य शुद्धि—कायोत्सर्ग-जनित जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता का नाश ।^३

मध्यस्थ—संकीर्णता या पक्षपात-रहित ।^४

मनःशल्य—चैतन्यिक क्लेश ।^५

मन्मनस्त्व—मन ही मन गुनगुनाना । वाणी द्वारा दूसरों को मन के भाव कहने की क्षमता का अभाव ।^६

मरुत्—श्वासोच्छ्वास ।^७

१. यो. श. ८६

२. यो. श. ८६

३. का. श. १४७६

४. यो. बि. २

५. समत्वं भज भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।

अपाकृत्य मनःशल्यं भावशुद्धिं समाश्रय ॥

—ज्ञाना. २ द्वादश भावना ४

आत्मन् ! तुम समस्त जीवों में समता का, ममताहीनता का चिन्तन करो । मन के शल्य—कांटे को—संक्लिष्ट चिन्तन को निकाल कर भावशुद्धि स्वीकार करो ।

६. यो. शा. २.५३

७. यो. मा. ३३

मलना—ध्वंस, नाश ।^१

महापथप्रयाण—अध्यात्म-साधना के महान् पथ—योग-मार्ग में विशेष गति-शीलता ।^२

महापायनिवृत्ति—घोर दुःखप्रद सांसारिक जंजाल से छुटकारा ।^३

महामति—योगसूत्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि के लिए आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा विशेष रूप से प्रयुक्त विशेषणात्मक प्रयोग ।^४

महारत्न—अध्यात्म-योग का श्रवण तथा विधिवत् अभ्यास योगदृष्टिसमुच्चय में महारत्न—परम मूल्यवान् रत्न के रूप में अभिहित है ।^५

१. स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।

मलनायास्त्वनर्थोऽपि महानेव तथैव हि ॥

—यो. बि. १४२

जैसे स्व की—आत्मा की आराधना का फल अनुत्तर—जिससे बढ़कर और कुछ नहीं है—मोक्ष बतलाया गया है, उसी प्रकार उसकी विराधना का फल बड़ा अनर्थकारक कहा गया है ।

२. एतत्प्रधानः सच्छुद्धःशीलवान् योगतत्परः ।

जानात्यतीन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामतिः ॥

—यो. दृ. स. १००

आगम-प्रधान—आप्तवचन को प्रधान—महत्त्वपूर्ण मानने वाला, उत्तम श्रद्धायुक्त, शीलवान्, योगपरायण पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है, ऐसा महामति पतंजलि आदि ने कहा है ।

३. गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदाहृतः ।

मुक्त्यद्वेषाद् यथाऽत्यन्तं महापायनिवृत्तिः ॥

—यो. बि. १४६

गुरु आदि के पूजन-सत्कार में इतना गुण—लाभ नहीं बतलाया गया है, जितना घोर अपाय—अत्यन्त अनर्थकर संसार-चक्र से मुक्त कराने वाले मोक्ष से द्वेष न करने—उस ओर अनभिरुचि न रखने में कहा गया है ।

४. यो. दृ. स. २२५

५. योगान् स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान् ।

भुञ्जानोऽपि ह्यसंगः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥

—यो. दृ. स. १६६

कान्तादृष्टि में विद्यमान साधक सांसारिक भोगों को मृग-मरीचिका के जल के सदृश मिथ्या समझता है । वह उन्हें भोगता हुआ भी असंग-अनासक्त (आसक्ति-वर्जित) रहता है । वह परम पद की ओर बढ़ता जाता है ।

महाविद्या—पंचपरमेष्ठि—पदों से निष्पन्न, 'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय-सर्व-साधुभ्यो नमः' रूप षोडशाक्षरी विद्या ।^१

महोदय—समुन्नत, ऊर्ध्वगामी ।^२

मातृका-स्मरण—वर्ण-समाप्ताय के चिन्तन-स्मरण का योगसम्मत एक विशेष क्रम ।^३

माध्यस्थ्य—विपरीत परिस्थितियों एवं लोगों के प्रति मध्यस्थ-भाव या तटस्थता ।^४

मायोदकोपम—मृगमरीचिका का जल । सांसारिक भोगों की सारहीनता, मिथ्यापरकता एवं अयथार्थता व्यक्त करने हेतु आचार्य हरिभद्र द्वारा विशेषण रूप में प्रयुक्त ।^५

माखती—वायवी (धारणा) ।^६

मार्गबीज—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र्य रूप रत्नत्रय की प्राप्ति के मार्ग का सम्यक्त्व लाभ रूप बीज—मूल हेतु ।^७

मार्गोच्छेद—धर्म-पथ का विलोप ।^८

१. ज्ञाना. ३८-४८

२. यो. दृ. स. १७५

३. यो. शा. ८.४

४. यो. शा. ७६

५. यो. दृ. स. २१

६. ततस्त्रिभुवनाभागे पूरयन्तं समीरणम् ।

चालयन्तं गिरीनब्धीन् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत् ॥

तच्च भस्मरजस्तेन शीघ्रमुद्धूय वायुना ।

दृढाभ्यासः प्रक्षान्तिं तमानयेदिति माखती ॥

—यो. शा. ७.१६-२०

आग्नेयी धारणा के अनन्तर तीनों लोकों को आपूर्ण करते हुए (भरते हुए), पहाड़ों को, समुद्रों को क्षुब्ध करते हुए (आंदोलित करते हुए) वायु का चिन्तन करना चाहिए ।

आग्नेयी धारणा के अन्तर्गत शरीर तथा अष्ट कर्मों को जला देने से जो राख बनी थी, वह इस प्रचंड वायु द्वारा उड़ाई जा रही है, बिखेरी जा रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए ।

ऐसा सुदृढ़ अभ्यास कर (अनुभूतिकर) उस वायु मूलक चिन्तन को शांत कर देना चाहिए । इसे वायवी धारणा कहा जाता है ।

७. अ. सा. १.५०

८. अ. सा. १.४३

माद्वं—मान के परित्याग के फलस्वरूप उत्पन्न मृदुता-भाव ।^१

माल—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में पांचवां दोष । ऊपर की छत से मस्तक सटाकर खड़ा होना ।^२

मालिन्यातिशय—आत्मपरिणामों की अत्यधिक मलिनता ।^३

माहेन्द्री पवन—पृथ्वी-मंडल का पवन ।^४

मित्रा—योगदृष्टिसमुच्चय में निरूपित आठ योगदृष्टियों में पहली दृष्टि । जगत् के समस्त प्राणियों के प्रति व्यापक मित्रभाव उद्बुद्ध होने के कारण यह 'मित्रा' नाम से अभिहित हुई है । इस दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर सम्यक्-दर्शनोन्मुख किंचित् बोध अधिगत होता है किन्तु वह मंदता लिये रहता है । साधक इसमें योग का प्रथम अंग यम प्राप्त कर लेता है । देवोपासना आदि में वह परिश्रान्ति अनुभव नहीं करता । जो देवोपासना आदि धर्म-कार्य नहीं करते, उनके प्रति द्वेष नहीं रखता ।^५

मिथ्या दृष्टि—असत् तत्त्व-निष्ठा । देव, गुरु तथा धर्म के संदर्भ में मिथ्या—विपरीत आस्था ।^६

मिथ्या-विकल्प—अयथार्थ कल्पना ।^७

१. श्या. श. ६६

२. का. श. १५६०

३. यो. बि. ७३

४. ज्ञाना, २६.२६

५. यो. दृ. स. १४

६. यो. दृ. स. १६२

७. शान्तोदात्तः प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मतः ।

धन्यो भोगमुखस्येव वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥

अनीदृशस्य यथा न भोग-सुखमुत्तमम् ।

अशान्तावेस्तथा शुद्धं नानुष्ठानं कदाचन ॥

स्वबुद्धि-कल्पना शिल्पि-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥

—यो. बि. १८७-८६

जिस प्रकार एक धनाढ्य, रूपवान्, युवा पुरुष सांसारिक भोग भोगने में समर्थ होता है, उसी प्रकार एक पुरुष, जो स्वभाव से ही शांत, उच्च-उदार-भावापन्न है, शुभ भावों के आश्रय—उत्तम, सत् अनुष्ठान के आचरण में, निर्वाह में सक्षम होता है ।

जो अनीदृश है—ऐसा नहीं है—धनाढ्य, रूपवान् एवं युवा नहीं है, उत्तम भोग-सुख नहीं पा सकता, वैसे ही जो शांत, उदात्त

मीमांसा—सूक्ष्म बोध-पूर्वक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन आदि अथवा सद् विचारणा में तल्लीनता, जिसकी फल-निष्पत्ति आत्माभ्युदय में होती है ।^१

मीलक—दीन, अन्धे, दुःखी, रुग्ण, निर्धन एवं जीविका-रहित लोग, जो दान के अविकारी हैं ।^२

मुक्तकल्पना—आत्मा के कर्ममुक्त होने की विचारधारा ।^३

मुक्तवादी—आत्मा को चिरन्तन मुक्त मानने वाले ।^४

मुक्ताभिनिवेश—दुराग्रह-रहित ।^५

मुक्ति—लोभ के परित्याग के फलस्वरूप उत्पन्न मुक्तता—परिग्रहयुक्त जगत् से छूटने का भाव, हलकापन, अध्यात्म की दिशा में स्फूर्ति ।^६

मुक्तिवादी—मोक्षवाद में विश्वास करने वाले, मोक्ष की चर्चा में अभिरत ।^७

नहीं है, वह सत् अनुष्ठान नहीं कर सकता ।

दोनों—भोगोन्मुख पुरुष एवं साधक, जो अपनी वाञ्छित योग्यताओं से रहित हैं, यदि ऐसा सोचें कि वे अपना इष्ट प्राप्त कर लेंगे तो उनका यह सोचना एक शिल्पी द्वारा अपनी बुद्धि की कल्पना से निर्मित उस मिथ्या प्रासाद के सदृश है, जो मात्र विडंबना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

१. यो. दृ. स. १२५

२. दीनान्धकृपणा ये तु व्याधिग्रस्ता विशेषतः ।

निःस्वाः क्रियान्तराशक्ता एतद्वर्गो हि मीलकः ॥

—यो. बि. १२३

दीन—दैन्ययुक्त (कार्य करने में असमर्थ), नेत्रहीन, दुःखित, विशेषतः रोगपीडित, निर्धन एवं जीविकारहित लोग दान के अविकारी हैं ।

३. यो. दृ. स. ८८

४. यो. बि. ३०१

५. एमाइ जहोचिय-भावणाविसेसाओ जुज्जए सब्बं ।

मुक्ताभिनिवेशं खलु निरुवियब्बं सबुद्धीए ॥

—यो. श. ८६

उक्त विवेचन भावना की यथोचित रूप में विशेषताएं प्रतिपादित करता है । सदबुद्धि साधक मुक्ताभिनिवेश होकर—जरा भी दुराग्रह न रखते हुए उसका मनन, निरूपण करे ।

६. ध्या. श. ६६

७. यो. दृ. स. ८८

मुक्तिहेतुप्रपञ्च—मुक्ति के कारण का विस्तार, अध्यात्मोन्मुख योगसाधना का संप्रसार ।^१

मुक्तांशत्व—मुक्तात्मा या परमात्मा की अंशशून्यता ।^२

मुक्त्यंग—आप्तोपदिष्ट ज्ञानपूर्वक कुलयोगियों द्वारा आचीर्ण अध्यात्मोन्मुख क्रिया-प्रक्रिया, योगाभ्यास-क्रम, जो श्रुत-शक्ति के समावेश के कारण उत्तरोत्तर उत्तम फल-निष्पत्ति की शृंखला लिये गतिशील रहते हैं ।^३

मुक्त्यद्वेष—मोक्ष का विरोध न करने की वृत्ति ।^४

मुण्डकेवली—आत्मकल्याण साधने का अत्यन्त उत्कट भाव लिये एकमात्र अध्यात्म-साधना में सतत प्रयत्नशील ।^५

मुद्रा—दैहिक, मानसिक, परिष्कार—परिमार्जन हेतु यौगिक पद्धति में आविष्कृत विशिष्ट दैहिक स्थितिक्रम । हठयोगप्रदीपिका में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्ड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीत-करणी, वज्रौली तथा शक्ति-संचालन—ये दस मुद्राएं बतलाई गई हैं ।^६

मूच्छर्त्ता—आसक्ति ।^७

मूढ—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों में ग्रस्त, धर्मप्रतिकूल, जनप्रतिकूल, कार्यो में तत्पर, तमो गुण के आधिक्य से उत्पन्न, करणीय, अकरणीय का भेद करने में अक्षम (मन) ।^८

१. यो. मा. ३४

२. यो. बि. ५१५

३. यो. दू. स. १६८

४. यो. बि. १०६

५. संविग्नो भवनिर्वोदादात्मनिःसरणं तु यः ।

आत्मार्यसंप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥

—यो. बि. २६०

संसार से विरक्ति हो जाने के कारण जो संवेग-युक्त है—आत्म-स्वरूप अधिगत करने की उत्कण्ठा लिये होता है, अपने कल्याण का आधार वह स्वयं ही है, ऐसा मानता हुआ जो आत्मलक्ष्य प्राप्त करने की दिशा में सदा प्रयत्नशील रहता है, वह मुण्डकेवली कहा जाता है ।

६. ज्ञाना. ४०.२

७. यो. शा. १.२४

८. क्रोधादिभिनियमितं विरुद्धकृत्येषु यत्तमो मूढः ।

कृत्याकृत्यविभागासंगतमेतन्मनो मूढम् ॥

—अ. सा. ७.२०-५

मूढात्मा—बहिरात्मा, शरीर, पुत्र, कलत्र, धन, वैभव आदि में जीवन की सार्थकता मानकर आसक्त ।^१

मूलशुद्धि—आत्मशोधन, चित्तवृत्तियों का परिष्कार ।^२

मृत्यु—वायु-भेद । जब वायु नासिका-विवर गत मंडल में से बाहर निकलता है तो उसकी 'मृत्यु' संज्ञा होती है ।^३

मृत्युघ्न—तप-विशेष ।^४

मृषानन्द—असत्य में रस लेते हुए उस ओर मन की एकाग्रता । रौद्र ध्यान का 'मृषानुबंधी' या 'अनृतानुबंधी' संज्ञक दूसरा भेद ।^५

जो मन तमोगुण के आधिक्य के कारण विपरीत कार्यों में क्रोधादि के फलस्वरूप नियमित—नियंत्रित (एकाग्र) होता है, कृत्य—करने योग्य, अकृत्य—न करने योग्य का भेद नहीं कर पाता, वह मूढ कहा जाता है ।

१. मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद् भयास्पदम् ।

यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥

—स. श. २६

अज्ञानी पुरुष आत्मा की कर्मोदय-जनित अवस्थाओं को वास्तविक मानता हुआ उनमें विश्वस्त—आश्वस्त रहता है, उन्हें अभय-स्थान मानता है । पर, वास्तव में उससे अधिक भयास्पद और कोई नहीं है । आत्मा के शुद्ध स्वरूप के आश्रय के अतिरिक्त और कोई अभय-स्थान नहीं है, जिसे वह अज्ञान के कारण अपने लिए भय-स्थान मानता है ।

२. एवं च मूलशुद्धयेह योगभेदोपवर्णनम् ।

आरुमात्रादिसत्पुत्रभेदव्यावर्णनोपमम् ॥ —यो. बि. ५११

मूल शुद्धि—आत्म-शोधन, चित्त-वृत्तियों के परिष्कार के आधार पर यहां (प्रस्तुत प्रसंग में) योग के भेदों का, विशेषताओं का श्रेष्ठ माता-पिता के सत्पुत्र की विशेषताओं की तरह प्रतिपादन किया गया है ।

३. यो. शा. ५.५८

४. यो. बि. १३१

५. अनेकासत्यसंकल्पैः प्रमोदः प्रजायते ।

मृषानन्दात्मकं रौद्रं तत्प्रणीतं पुरातनैः ॥

—ज्ञाना. २६.२३

अनेक प्रकार के मिथ्या संकल्पों द्वारा मन में जो प्रमोद—आनन्द उत्पन्न होता है, उस पर मन टिकता है, उसे पुरातन पुरुषों ने मृषानन्दात्मक रौद्र ध्यान कहा है ।

मंत्री—प्राणीमात्र के प्रति सौहार्द-भाव ।^१

य

यत्नपर—यथावत् रूप में जागरूकतया अभ्यास-रत ।^२

यत्नसंगत—साधना-परायण ।^३

यथाख्यातचारित्र—कथाय के उदयाभाव से संबंधा निरतिचार, निर्दोष चारित्र ।^४

यथाप्रवृत्तिकरण—अनजाने धीरे-धीरे आत्मा में जो अप्रयत्नसाध्य शुद्धिपरक आभ्यन्तर आन्दोलन या संस्फूर्ति-क्रम गतिमान् होता है, उसे यथा-प्रवृत्तिकरण कहा गया है । शास्त्रों में इसे पहाड़ी नदी में पड़े पत्थरों के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है । वहां बताया गया है कि पत्थर, जो स्वयं ज्ञानशून्य हैं, नदी के प्रवाह के कारण लुढ़कते-लुढ़कते, परस्पर टकराते-टकराते घिस-घिस कर अनेक रूप ले लेते हैं । उन पत्थरों के लुढ़कते जाने का, विभिन्न रूप लेने का न कोई लक्ष्य है, न कोई सुनियोजित क्रम ही । सहजतया नदी के संयोग से ऐसा होता है । उसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण में आत्मा का परिशुद्धिक्रम चलता है ।^५

यथाभव्य—अपने अपने भव्यत्व के अनुरूप ।^६

यन्त्रवाहक—कर्मावरण प्राप्त, देहरूप यंत्र को ढोनेवाला ।^७

१. यो. श. ७६

२. यो. वि. ११

३. कयमित्थ पसंगेणं ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु ।

हियमेयं विन्नेयं सवणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥

—यो. वि. १७

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलंबन एवं अनालम्बन योग में जो व्यक्ति यत्नसंगत—अभ्यास-निरत रहते हों, उन्हीं का अनुष्ठान, सदनुष्ठान कहा जाता है ।

४. यो. मा. ३३

५. यो. दृ. स. ३८

६. यो. दृ. स. १३७

७. रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि संततम् ।

यथा रंगेऽत्र शैलूषस्तथाऽयं यंत्रवाहकः ॥

—ज्ञाना. २, संसार-भावना ८

यम—महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र में प्रतिपादित योग के आठ अंगों में पहला अंग । योगदृष्टिसमुच्चय में उपपादित आठ योग-दृष्टियों में प्रथम मित्रा दृष्टि में यह प्राप्त होता है । यम का अभिप्राय आत्म-नियमन, इन्द्रिय-नियमन एवं प्रवृत्ति-नियमन है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—यम के ये पांच भेद हैं ।^१

यातायात—मन के चार भेदों में दूसरा भेद । जो न तो सर्वथा चंचल होता है और न स्थिर ही होता है । प्रत्युत जो कभी बाहर जाता है, कभी अन्तः स्थित हो जाता है, कुछ कुछ आनन्दमय होता है, उसे यातायात मन कहा जाता है ।^२

याथात्म्य—निश्चय—आत्मा के यथार्थ स्वरूप का सम्यक् निर्धारण, संप्रतीति ।^३

याथात्म्य—यथार्थ स्वरूप ।^४

योगकथा—योगाभ्यास सम्बन्धी चर्चा, विचार-विमर्श, आलोचन-प्रत्यालोचन, योगियों के अनुभवों का समीक्षण ।^५

योगक्रियाफल—जैन योग में स्वीकृत अवचकत्रय—सद्गुरु का सुयोग, उनका वन्दन, नमस्कार, सत्कार, सेवा तथा उत्तम फल-प्राप्ति—यह योग-क्रियाफल है ।^६

योग-गोचर—योगसाधना के अन्तर्गत ।^७

योजन—जोड़ना ।^८

योजना—विवेचना ।^९

जिस प्रकार नाट्यशाला के रंगमंच पर अभिनय करने वाला पात्र भिन्न-भिन्न वेष धारण करता है, उसी प्रकार यह जीव निरंतर भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता जाता है, त्यागता जाता है और पुनः ग्रहण-त्याग करता जाता है ।

१. (क) यो. दृ. स. १६

(ख) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

—पा. यो. सू. २.३०

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह यम कहलाते हैं ।

२. यो. शा. १२.३

३. अ. सा. २.५८

४. यो. मा. २२

५. यो. दृ. स. ४२

६. यो. दृ. स. ३४

७. यो. दृ. स. ४६

८. यो. वि. १

९. यो. वि. ६

योगदृष्टि—इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग का साक्षात् आधार लिये बिना, किन्तु विशेषतः उन्हीं से समुद्भूत अध्यात्मपरक दृष्टि ।^१

योगनिद्रा—तन्मयतापूर्ण ध्यानावस्था ।^२

योग-निरोध—मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्तियों का अवरोध ।^३

योग प्रयोग—योगविद्या या योगसाधना का जीवन में विशेष रूप से क्रिया-न्वयन, जिसे संपादित करने की क्षमता योगी में तब आती है, जब वह अवचकत्रय प्राप्त कर लेता है ।^४

योगप्रयोगविगम—मन, वचन एवं काय योग, तथा पर-प्रेरणा का अभाव ।^५

योगबीज—जिनेश्वर देव के प्रति शुद्ध भाव युक्त चित्त, नमस्कार, प्रणाम, भक्तिपूर्ण प्रवृत्ति, अध्यात्मयोगरत आचार्य आदि की शुद्ध भावनापूर्वक सेवा, परिचर्या, संसार से वैराग्य, सत्पात्र को निर्दोष भोजन, वस्त्र आदि सामग्री एवं औषधि आदि का सम्यक् दान, शास्त्रों का लेखन, पूजन, दान, श्रवण, सम्मान, जिज्ञासु जनों में प्रसार, स्वाध्याय, चित्तन मनन आदि योगबीज कहे जाते हैं ।^६

योगमाया—योग की प्रभावापन्न प्रस्तुति, लीला ।^७

योगमुद्रा—योगसाधना की सुनिश्चित स्थिति ।^८

योगरोध—मन, वचन, काय का निरोध ।^९

योगलोचन—योग रूप नेत्रयुक्त, योग द्वारा अन्तर्दर्शी ।^{१०}

१. यो. दृ. स. १२

२. योगनिद्रा स्थिति धत्ते मोहनिद्रापसर्पति ।

आसु सम्यक्प्रणीतासु स्यान्मुनेस्तत्त्वनिश्चयः ॥

—ज्ञाना. २७.१८

भावनाओं का भलीभांति अभ्यास करने पर मुनि मोह-निद्रा का परित्याग कर देता है, योग-निद्रा प्राप्त कर लेता है—योगाभ्यास में तन्मय होता है । ऐसा मुनि तत्त्व-साक्षात्कार प्राप्त करता है ।

३. ध्या. श. ३

४. यो. दृ. स. २१३

५. यो. शा. ११.५६

६. यो. दृ. स. २३, २६-२८

७. अ. सा. २.३४

८. यो. मा. ३

९. यो. शा. ४.११५

१०. यो. बि. ५२७

योगवृद्धि—शुद्ध योगनिष्ठ सत्पुरुषों के यथाशक्ति सम्मान, उनकी सेवा-परिचर्या तथा उनके अनुग्रह से योग-साधना में उत्तरोत्तर विकास ।^१

योगशुद्ध—शुद्ध, निर्दोष, निर्द्वन्द्व योगानुगत ।^२

योगसत्तम—योग की सर्वोत्तम दशा—मानसिक, वाचिक तथा कायिक प्रवृत्तियों का अयोग—अभाव ।^३

योग-समाप्ति—विद्यमान भव में योग-साधना की सम्पन्नता, संपूर्णता ।^४

योगसिद्धि—यत्नपूर्वक निरवद्य क्रियानुसरण, निर्दोष वाक्प्रयोग एवं शुभ चिन्तन-जनित मनःशुद्धि पूर्वक सफल योगानुष्ठान ।^५

योगसंक्रान्ति—एक योग—मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति से दूसरे योग में गमन ।^६

योगसंन्यास—जैन दर्शन-सम्मत नौ तत्त्वों में एक आस्रव तत्त्व है । आस्रव के भेदों में एक योग-आस्रव है । वह कर्म-प्रवृत्ति रूप है । शरीर, मन तथा वाणी की प्रवृत्तियों द्वारा, दूसरे शब्दों में शरीरयोग, मनयोग तथा वचनयोग द्वारा आत्मा में कर्म आते रहते हैं, बंधते रहते हैं । अर्थात् योग-आस्रव कर्म-आगमन का मुख्य द्वार है । योगदृष्टिसमुच्चय में शरीर आदि के कर्मों को योग कहा गया है, इस दृष्टि से कि वे योग (आस्रव) द्वारा आते हैं । वैसे कर्मों का संन्यास—त्याग अथवा ऐसी उच्च स्थिति की प्राप्ति, जहां आत्मा और कर्म का सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाए, उसे योग-संन्यास कहा गया है ।^७

१. यो. दू. स. ४३

२. यो. श. ३६

३. तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात् ।

भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ॥

—यो. दू. स. १८६

चतुर्दश गुणस्थान में केवली भगवान् अयोग—मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों के सर्वथा निरोध द्वारा, जो योग की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है, शीघ्र ही भव-भ्रमण रूप व्याधि का नाश कर परम निर्वाण पद अधिगत कर लेते हैं ।

४. यो. श. ६२

५. यो. श. ४०

६. ज्ञाना. ४२.१७

७. यो. दू. स. ६

योगानुभाव—यथार्थतः निष्पादित योग-साधना के परिणाम-स्वरूप उद्भूत योग-लब्धि रूप प्रभावशालिता ।^१

योगाभ्यास रस—योगसाधना के क्रम में तन्मयता, योगक्रिया करते हुए मन में अत्यधिक हर्ष एवं उल्लास की अनुभूति, जिससे सत्य के साक्षात्कार में अन्तःप्रेरणा जागरित होती है, शक्ति प्रस्फुटित होती है ।^२

योगिज्ञान—योगसाधना द्वारा निष्पन्न असाधारण ज्ञान, जिससे परोक्ष पदार्थ प्रत्यक्षवत् प्रतीत होते हैं ।^३

योगिप्रत्यक्षभाव—आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का योगियों द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन ।^४

योगोत्थान—चित्त का योग में से उठना, योग से हटना, विचलित होना ।^५

योगोद्योगप्रयोग - योगसाधना का विशिष्ट आचरण, परिपालन ।^६

१. जोगाणुभावओ चिय पायं न य सोहणस्स वि य लाभो ।

लद्धीण वि संपत्ति इमस्स जं वन्निया समए ॥

—यो. श. ८३

योग के प्रभाव से योगी के पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता । उसके केवल पुण्य का बन्ध होता है । शास्त्रों में योगियों को लब्धियां या सिद्धियां प्राप्त होने का जो विवेचन है, उससे यह तथ्य समर्थित है ।

२. आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च ।

त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तम ॥

—यो. दृ. स. १०१

आगम—आप्त निरूपित शास्त्र, अनुमान तथा योगतन्मयता से प्रादुर्भूत अनुभव—इन तीन के सहारे बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व—सत्य का साक्षात्कार कर लेता है ।

३. यो. दृ. स. २०३

४. आत्माद्यतीन्द्रियं वस्तु योगिप्रत्यक्षभावतः ।

परोक्षमपि चान्येषां न हि युक्त्या न युज्यते ॥

—यो. बि. ५१

आत्मा आदि इन्द्रियातीत पदार्थ योगियों को प्रत्यक्ष हैं—वे उनको साक्षात् देखते हैं, अनुभव करते हैं । इसलिए अन्य जनों के लिए जो प्रत्यक्ष नहीं हैं—अप्रत्यक्ष हैं, उन्हें भी वे नहीं हैं, ऐसा कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि वे योगि-प्रत्यक्ष हैं ।

५. यो. दृ. स. ५७

६. यो. मा. १०

र

रजस्—सांख्यमत-सम्मत तीन गुणों में से एक गुण—रागरंजित या आसक्ति-प्रधान ।^१

रविमार्ग—दक्षिण नाड़ी ।^१

रस-संखित्—रस-सम्बन्धी ज्ञान ।^१

रसेन्द्र—आत्मा ।^१

रिक्त—नासिका में संचरणशील—चलते हुए पवन का बाहर निकलना ।^१

रिक्तांग—वह अंग, जिस ओर के नासिका में से पवन न वह रहा हो ।^१

रुक्—राग, द्वेष, मोह रूप त्रिवेष्ट-जनित भाव-रोग के लिए इसका प्रयोग हुआ है । आचार्य हरिभद्र ने सातवीं प्रभा नामक योगदृष्टि में ध्यान सधने के साथ-साथ रुक्-निवृत्ति की चर्चा की है । अर्थात् प्रभा दृष्टि में संस्थित योगी के रागद्वेषमोहात्मक भाव-रोग नहीं रहते । वह आत्म-स्वस्थता प्राप्त कर लेता है ।^१

रूपस्थ—जिनेन्द्र के दिव्य, सौम्य रूप का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान ।^१

रूपातीत—अमूर्त, चिन्मय, आनन्दमय, निरंजन परमात्मा का ध्यान ।^१

१. सत्त्वं रजस्तमश्चेति शरीरान्तर्गुणत्रयम् ।

रजस्तमश्च संत्यज्य सत्त्वमेकं समाश्रयेत् ॥ —यो. प्र. ६८

शरीर में सत्त्व, रजस् तथा तमस्—ये तीन गुण विद्यमान हैं ।

रजस् तथा तमस् का परित्याग कर सत्त्व को ग्रहण करना चाहिए ।

२. यो. शा. ५.५७

३. यो. शा. ५.३४

४. यो. मा. १२

५. यो. शा. ५.२२६

६. यो. शा. ५.२४३

७. यो. दृ. स. १७०

८. (क) यो. शा. ६.१०

(ख) ध्या. स्त. ३०

९. रूपातीतं भवेत्तस्य यस्त्वां ध्यायति शुद्धधीः ।

आत्मस्थं देहतो भिन्नं देहमात्रं चिदात्मकम् ॥ —ध्या. स्त. ३२

परमात्मन् ! जो शुद्धबुद्धि साधक आपका देह से भिन्न, देह-व्याप्त, चिन्मय, शुद्ध आत्मभाव के रूप में चिन्तन करता है, उसका वह चिन्तन “रूपातीत ध्यान” कहा जाता है ।

रूपी—मूर्त्ति, स्थूल या इन्द्रियगम्य पदार्थ ।^१

रेचक—नासिका, ब्रह्मरन्ध्र तथा मुख द्वारा उदर से वायु का बाहर प्रक्षेप
रेचक प्राणायाम है ।^२

रेखोपरेखांश—मात्रा, अर्द्ध मात्रा एवं तदंश ।^३

रोमाञ्च-उदञ्चवृद्धि—उत्कृष्ट रोमांच का उद्गम ।^४

रौद्र—हिंसा, असत्य, स्तेय एवं विषय-संरक्षण पर आश्रित अतिशय क्रूरता
युक्त एकाग्र-चिन्तन ।^५

ल

लक्ष्यापन्न—परम शुद्ध आत्मस्वरूप अधिगत करने के लक्ष्य पर समारूढ़ ।^१

लघुत्वापादन—महत्त्वपूर्ण कार्य को अल्प या महत्त्वहीन प्रयोजन द्वारा तुच्छ
बना देना ।^२

लता—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में दूसरा दोष । वायु से आन्दोलित लता
की ज्यों प्रकम्पित होना ।^३

लब्धिफलान्वित—अन्तराय कर्म के क्षय से समुत्पन्न अनन्त दानलब्धि, अनन्त
लाभलब्धि, अनन्त वीर्यलब्धि एवं अनन्त भोगलब्धि एवं अनन्त
उपभोगलब्धि रूप फल से समायुक्त ।^४

१. यो. वि. १६

२. यः कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननः ।

बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥

—यो. शा. ५.६

अत्यन्त प्रयत्न के साथ वायु का उदर में से नासिका, ब्रह्मरन्ध्र
और मुख द्वारा बाहर प्रक्षेपण करना रेचक प्राणायाम कहा जाता है ।

३ अ. सा. ७.५१

४. यो. मा. ८

५. घ्या. श. ५

६. यो. प्र. ३१

७. यो. बि. १५६

८. का. श. १५६०

९. यो. दृ. स. १८५

लयलीन—निरंजन परमात्मस्वरूप में तन्मय, लवलीन ।^१

लाघवयोग—समस्त कर्म एवं शरीर के आवरण से सम्पूर्णतः मुक्त हो जाने के कारण उत्पन्न नितान्त हलकापन ।^२

लाभरति—तुच्छ, क्षणिक, निःसार सांसारिक लाभ—घन, भोग्य पदार्थ, सुख-सुविधा, वैभव आदि में आसक्त ।^३

लालसा—आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमृच्चय में इसे आत्म-उल्लास के अर्थ में प्रयुक्त किया है । उन्होंने तारा दृष्टि में अवस्थित साधक में एक ऐसी विशेष वृत्ति निष्पन्न होने का संकेत किया है, जिसके अनुसार उसमें विशिष्ट गुणी जनों तथा उनके उत्तम कार्यों के प्रति लालसा-न्वित—उल्लासपूर्ण जिज्ञासा उत्पन्न होती है ।^४

लिङ्गोपनिपात—बाह्य चिह्नों या शकुनों की अनुकूलता ।^५

लीनता—परिसंलीनता या प्रतिसंलीनता । मन, वचन तथा काय का गोपन करना—उन्हें विषयों से, अशुभ योग की प्रवृत्तियों से, प्रत्याहृत करना ।^६

लोकपक्कि—जनानुरंजन ।^७

१. कीदृशोऽस्मि क्व गन्तास्मि किं करोमि स्मरामि किम् ।

इति योगी न जानाति लयलीनो निरंजने ॥

—यो. प्र. ७५

जो योगी निर्विकार, शुद्ध आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है, वह नहीं जानता कि मैं कैसा हूँ, क्या करता हूँ, किसका स्मरण करता हूँ, कहां जाऊंगा ?

२. यो. शा. ११.६०

३. यो. द्. स. ७६

४. यो. द्. स. ४६

५. आत्मा तदभिलाषी स्याद् गुरुराह तदेव तु ।

तल्लिङ्गोपनिपातश्च सम्पूर्णं सिद्धिसाधनम् ॥

—यो. बि. २३२

आत्मा में सत् अनुष्ठान का अनुगमन करने की आकांक्षा होना, गुरुजन से तदनुरूप उपदेश प्राप्त होना तथा बाह्य चिह्नों, शकुन आदि का अनुकूल होना, अनुष्ठान की संपूर्ण सफलता का संकेत करते हैं ।

६. यो. शा. ४.८६

७. भवाभिनन्दिनो लोकपक्क्या धर्मक्रियामपि ।

महतो हीनदृष्ट्योच्चैर्दुरन्तां तद्विदो विदुः ॥

—यो. बि. ८६

भवाभिनन्दी—संसार में आसक्त जीव धर्मानुष्ठान भी लोगों के

लोकयात्रातिग—जिसने सांसारिक आसंग अतिक्रान्त कर दिये हैं ।^१

लोक-व्यप्रेक्षा—लोक-प्रसादन का दृष्टिकोण ।^२

लोकसंज्ञा—एक के पीछे एक भेड़ों की तरह चलने वाला गतानुगतिक लोक-प्रवाह ।^३

लोकाचारानुवृत्ति—लोकसम्मत आचार का अनुसरण ।^४

व

वज्र—शास्त्रीय परंपरा के विपरीत विधिक्रम में पक्षपात तथा अयोग्य गुरु से प्राप्त उपदेश के अनुवर्तन से होने वाला शास्त्र-विधि का नाश, जो अनिष्ट फलप्रद होता है ।^५

वज्रकाय—वज्र-ऋषभ-नाराज सहनन युक्त ।^६

वज्रासन—वज्र की आकृति की तरह दोनों हाथों को पीछे कर पैरों के अंगूठे पकड़ने पर जो देह का आकार बनता है, आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार उस वज्रासन कहते हैं ।^७

वधू—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में सातवां दोष । कुल-वधू की तरह मस्तक झुकार खड़ा होना ।^८

वन्ध—आत्मा पर अनुग्रह या उपकार करनेवाला, उपास्य ।^९

अनुरंजन के लिए—उन्हें प्रसन्न या प्रभावित करने के लिए करते हैं । इस प्रकार वे महान् उच्च धर्म को हीन दृष्टि से उपयोग में लेते हैं । उनकी यह क्रिया दुरन्त—अत्यन्त कष्टपूर्ण फलप्रद होती है । योग शास्त्रज्ञ ऐसा मानते हैं ।

१. यो. मा. २०

२. यो. वि. ३३

३. यो. वि. १६

४. यो. वि. १३०

५. यो. वि. १५

६. ज्ञाना. २८. १३

७. यो. शा. ४. १२७

८. का. श. १५६०-६१

९. यो. वि. १८

वरुणवायु—चार प्रकार के वायुओं में दूसरा वायु । यह श्वेतवर्ण, शीतस्पर्श तथा नासिका से नीचे की ओर बारह अंगुल तक त्वरित बह्ण-शील माना गया है ।^१

वर्जन—वर्जन उत्सर्ग (कायोत्सर्ग) ।^२

वर्णमातृका—स्वर-व्यंजन-समूह ।^३

वशिता—आत्मानुशासन, आत्मतन्त्रता, जितेन्द्रियता ।^४

वस्तिमोक्षण—शुक्रपात ।^५

वस्तुविभ्रम—वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में मिथ्या भ्रान्ति ।^६

व्रणलेप—फोड़े पर लगाये जानेवाले लेप की तरह सावधिक ।^७

वाचनोद्ग्रह—शास्त्रों का यथाविधि—शुद्ध उपधान-क्रिया आदि द्वारा सम्मान ।^८

वादसंघट्ट—वादविवादात्मक संघर्ष ।^९

वायव्य-मण्डल—नासिका-विवरवर्ती योगसम्मत चार मंडलों में तीसरा मंडल ।

यह स्निग्ध अंजन, काजल या बादल जैसा श्याम, गोल, मध्य में बिदु-चिह्नित, कठिनाई से प्रतीयमान, चारों ओर पवन से परिवेष्टित, पवन-बीज 'य' से आवृत और चंचल माना गया है ।^{१०}

वायस—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में चवदहवां दोष । कौए की तरह दृष्टि को इधर-उधर मटकाना ।^{११}

१. धवलः शीतलोऽवस्तास्वरितत्वरितं बहन् ।

द्वादशांगुलमानश्च वायुर्वरुण उच्यते ॥

—यो. शा. ५.४६

धवल-वर्ण, शीत-स्पर्श तथा नीचे की ओर बारह अंगुल प्रमाण सत्वर प्रवहणशील वायु वरुण कहा जाता है ।

२. का. श. १४६५

३. ज्ञाना. ३८.२

४. यो. बि. ३६३

५. ज्ञाना. ११.६

६. ज्ञाना. ३.३०

७. यो. श. ८२

८. यो. दू. स. २८

९. यो. बि. ६६

१०. यो. शा. ५.४५

११. का. श. १५६०-६१

वारुण-मंडल—नासिका-विवर में परिकल्पित योग सम्बन्धी चार मंडलों में दूसरा मण्डल । यह अष्टमी के चन्द्र-सदृश आकृतियुक्त, वारुण अक्षर 'व' द्वारा चिह्नित, चन्द्र के सामन आभायुक्त तथा अमृत-निर्भर से व्याप्त माना गया है ।'

वारुण-क्षर—वरुण सम्बन्धी अक्षर 'व' ।'

वारुणी—पिण्डस्थ ध्येय के अन्तर्गत स्वीकृत पांच धारणाओं में चौथी धारणा । इसमें ऐसे आकाश का चिन्तन किया जाता है, जिससे अमृतोपम वृष्टि हो रही हो, जो मेघमालाओं से आच्छन्न हो ।'

वारुणी—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में बीसवां दोष । मद्यप की तरह बुदबुदाना ।'

वासीचन्दनकल्प—वसूले से एक हाथ को काटने वाले एवं चंदन से दूसरे हाथ पर लेप लगाने वाले के प्रति समान भाव रखने वाला । अथवा अपने को काटने वाले कुल्हाड़े को भी जैसे चन्दन सुरभित बनाता है, उसी प्रकार अपकार करने वाले पर भी उपकार करने का भाव, उत्तम आशय ।'

१. स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं वारुणक्षरलाञ्छितम् ।

चन्द्राभममृतस्यन्दसान्द्रं वारुणमण्डलम् ॥ —यो. शा. ५.४४

वारुण मंडल अर्ध चन्द्र—अष्टमी के चन्द्रमा के सदृश आकार युक्त, वारुण अक्षर "व" से चिह्नित, चन्द्रतुल्य आभायुक्त तथा अमृत-निर्भर में व्याप्त है ।

२. यो. शा. ४.४४

३. स्मरेद् वर्षत्सुधासारैर्धनमालाकुलं नमः ।

ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं मण्डलं वारुणांकितम् ॥

नमस्तलं सुधान्भोमिः प्लावयेत्तत्पुंरं ततः ।

तद्रजः कायसम्भूतं क्षालयेदिति वारुणी ॥ —यो. शा. ७.२१,२२

वारुणी धारणा में अमृत-सदृश वर्षा करने वाले बादलों के समूह से व्याप्त आकाश का चिन्तन करना चाहिए । तत्पश्चात् अर्धचन्द्राकार कला-बिन्दु सहित वरुण-बीज "व" का चिन्तन करना चाहिए । फिर वरुण-बीज "व" से प्रादुर्भूत अमृतोपम जल से आकाश भर गया है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए । पहले देह एवं कर्मों की जो भस्म वायु द्वारा उड़ा दी गई थी, वह इस जल द्वारा प्रक्षालित, प्रवाहित होकर साफ हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए । इतना कर इस धारणा को पर्यवसित कर देना चाहिए ।

४. का. श. १५६०-६१

५. यो. श. ६१

विकल—प्रमाद आदि के कारण खण्डित, अपरिपूर्ण अभ्यास-क्रम । योगदृष्टि-समुच्चय में इच्छायोग की परिभाषा में इस शब्द का प्रयोग हुआ है । कहा गया है कि वहाँ साधक का धर्म—व्यापार विकल होता है—वह सम्पूर्णतया नहीं सधता क्योंकि उसमें प्रमाद—अध्यात्म के प्रति आभ्यन्तर अनुत्साह की विद्यमानता रहती है ।^१

विकल्प—किसी पदार्थ या तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करना विकल्प है । वह दो प्रकार का है—शब्द-विकल्प, अर्थ-विकल्प । विविध शब्दों के माध्यम से कल्पना करना—विकल्प-प्रसूत विधि शब्दों द्वारा विवेचना करने का दुष्प्रयत्न करना शब्द-विकल्प है । शब्द के स्थान पर अर्थ को गृहीत कर ऐसा करना अर्थ-विकल्प है । आचार्य हरिभद्र ने विकल्प को अविद्या-संगत कहा है । अर्थात् अविद्या या ज्ञानावरणीय कर्म-जनित अज्ञानमूलक अवस्था से विकल्प उत्पन्न होते हैं । अतएव उन्होंने योगी को विकल्पों से दूर रहने का संकेत किया है ।^२

विकल्पोपरम—मानसिक संकल्प की निवृत्ति ।^३

विक्रिया—विकार, परिणति, परिणमन ।^४

विक्षिप्त—राग, द्वेष, इच्छा, असूया, निन्दा, क्लेश आदि असद्भावों में परिणत पर पदार्थ में आत्मभ्रान्ति से विमूढ़ ।^५

विक्षेप—अवज्ञा, निन्दा, ईर्ष्या, मात्सर्य, राग, द्वेष आदि भावों से चित्त का विचलन, व्यथा ।^६

१. यो. दू. स. ३

२. यो. दू. स. ६०

३. अ. सा. ३.३२

४. यो. बि. ४५२

५. अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।

धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥

—स. श. ३६

अविक्षिप्त—राग-द्वेषादि विकल्प रहित चित्त तत्त्व-वस्तु तत्त्व या परमार्थ है । विक्षिप्त—राग-द्वेषादि विकल्प सहित चित्त आत्म-भ्रान्ति है । अतः अविक्षिप्त चित्त का आश्रय लेना चाहिए, विक्षिप्त का नहीं ।

६. अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।

नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥

स. श. ३८

जिसके चित्त में राग-द्वेषादि विक्षेप—विकल्प होते हैं, वह अज्ञ

विघ्नव्यय—अन्तराय-कर्म का नाश ।^१

विचय—वीतराग-आज्ञा में मनोयोग की संलग्नता—गवेषणामय चिन्तन, विवेक ।^२

विचिकित्सा—आत्मा तथा पर-पदार्थों के विनिश्चय में संशय-निवृत्ति न होने से फल में सन्देह ।^३

विज्ञान—आत्मा का स्व-पर-प्रकाशक विशिष्ट ज्ञान ।^४

विज्ञान-वासित—आत्मा तथा देह के भेद-विज्ञान के सौरभ से सुवासित, उल्लसित ।^५

वितन्त्र—अविद्यामयी तन्त्रा से विमुक्त, अज्ञान में नहीं ऊँधने वाला ।^६

वितर्क—आत्म-वर्णित पदार्थों का आलोकन-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान ।^७

विदेह-निष्पत्ति—जन्म-मरण से विमुक्ति, मोक्ष ।^८

विद्या—आत्म-तत्त्व का ज्ञान ।^९

पुरुष शरीर के अपमान, सम्मान को अपना—आत्मा का अपमान, सम्मान समझता है । जिसका चित्त विक्षेप-रहित होता है, वह शरीर के अपमान को अपमान तथा शरीर के सम्मान को सम्मान नहीं समझता ।

१. यो. मा. ३८

२. यो. मा. २३

३. अ. सा. ५.३६

४. यो. द्. स. १८३

५. न चेतः करुणाक्रान्तं न च विज्ञानवासितम् ।

विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षमः ॥

—ज्ञाना. ४.४५

जिसका चित्त करुणा-व्याप्त नहीं है, भेद-विज्ञान के संस्कार से युक्त नहीं है, भोगों से विरत नहीं है, वैसा व्यक्ति ध्यान करने में सक्षम नहीं होता ।

६. यो. प्र. १३२

७. यो. मा. २५

८. स. श. ७४

९. तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत् तद्विच्छेत् तत्परो भवेत् ।

येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं ब्रजेत् ॥

—स. श. ५३

ज्ञानी पुरुष को वही बोलना चाहिए, वही औरों को पूछना चाहिए, उसी में तत्पर होना चाहिए, जिससे वह अपने अविद्यामय—अज्ञानयुक्त रूप का परित्याग कर विद्यामय—ज्ञान-स्वरूप हो सके ।

विद्यानुवाद—अनुवृत्त पूर्वों में एक पूर्व ।^१

विधि-कथन—धर्म के विध्यात्मक रूप का उपदेश ।^२

विधि-सेवक—मन्त्रादि का यथाविधि सेवन करने वाला ।^३

विधीच्छु—शास्त्रोक्त विधान के संपादन में इच्छाशील ।^४

विनियोग—निश्चयानुगत शुद्ध व्यवहार-संपृक्त विशिष्ट योगसाधना-क्रम ।^५

विनिर्जरा—चारित्र-भावना द्वारा कर्मों का विशेष रूप से निर्जीर्ण होना, भङ्गना ।^६

विनिवृत्ताग्रहत्व—आग्रह—अभिनिवेश से विनिवृत्तता, उन्मुक्तता, आग्रह-हीनता ।^७

विन्यास—प्रस्थापन, प्रशिक्षण ।^८

विपक्षचिन्ता—साधना के प्रतिपक्षी—शत्रु अतिचार, दोष, विघ्न आदि की भीति, आशंका ।^९

विपाक—आचीर्ण कर्मों की उदयावस्था में उद्भूत परिणाम, फल ।^{१०}

विपाक-विचय—धर्म-ध्यान के चार भेदों में तीसरा भेद । इसमें विभिन्न प्रकार के कर्म-फल के उदय पर चिन्तन किया जाता है ।^{११}

१. ज्ञाना. ४०.४

२. अ. सा. ७.३२

३. यो. श. ६३

४. अ. सा. ७.३२

५. यो. दृ. स. १८१

६. ध्या. श. ३३

७. यो. बि. ५३

८. यो. बि. १२

९. यो. दृ. स. २१७

१०. यो. श. ६०

११. प्रतिक्षणसमुद्भूतो यत्र कर्मफलोदयः ।

चिन्त्यते चित्ररूपः स विपाकविचयोदयः ॥

—यो. शा. १०.१२

जिस ध्यान में प्रतिक्षण प्रादुर्भूत होने वाले विविध प्रकार के कर्मों के फलोदय का चिन्तन किया जाता है, वह विपाक-विचय धर्म-ध्यान कहा जाता है ।

विपाकविरसत्व—परिणाम में विरसता, असुखदता । सांसारिक भोगों के लिए विशेषतः इस शब्द का प्रयोग हुआ है, क्योंकि वे भोगने में सुखद प्रतीत होते हैं किन्तु परिणाम में दुःखद होते हैं ।^१

विपाक-साध्वस—बन्धे हुए कर्मों के भावी परिणाम या फलोदय से भीति ।^२

विभ्रवपदपर—सर्वातिशायी आत्मवैभव के प्रशस्त पद में संलग्न ।^३

विभंग—मिथ्यात्व-परिगृहीत अवधि-ज्ञान ।^४

विविक्त—देह आदि से सर्वथा भिन्न ।^५

विविक्त—एकान्त, निर्जन, शुद्ध ।^६

विवेक—उत्सर्ग (कायोत्सर्ग) ।^७

१. बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि सर्वाण्येवेह देहिनाम् ।

संसारफलदान्येव विपाकविरसत्वतः ॥

—यो. वृ. स. १२४

संसार में साधारणतया जीवों के सभी कर्म बुद्धिपूर्वक—इन्द्रिय-ज्ञान पूर्वक होते हैं । विषय (सांसारिक भोग)-प्रधान कर्म परिणाम में दुःखप्रद होते हैं, भवचक्र में भटकाते हैं ।

२. अ. सा. २.६३

३. यो. मा. ३७

४. ध्या. स्त. ४५

५. श्रुतेन लिगेन यथात्मशक्ति, समाहितान्तःकरणेन सम्यक् ।

समीक्ष्य कैवल्यसुखरूपद्वानां, विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥

—स. शा. ३

कैवल्य-सुख—अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द की अभिलाषा रखने वाले भव्य जीवों के लिए शास्त्र-ज्ञान, अनुमान-प्रमाण तथा यथाशक्ति साक्षात् आत्मानुभूति के आधार पर (मैं) शुद्ध आत्म-स्वरूप का प्रस्तुत कृति में विवेचन करूंगा ।

६. तीर्थ वा स्वस्थताहेतु यत्तद्वा ध्यानसिद्धये ।

कृतासनजयो योगी विविक्तं स्थानमाश्रयेत् ॥

—यो. शा. ४.१२३

आसन सिद्ध कर लेने वाला योगी स्वस्थता—आत्मस्थता (आत्मस्थिरता) तथा ध्यान-सिद्धि हेतु तीर्थ-तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा, कैवल्य, निर्वाण आदि से सम्बन्धित स्थान में से किसी एक का चयन करे । यदि वैसी सुविधा न हो तो किसी भी एकान्त स्थान का आश्रय ले ।

७. का. शा. १४६५

विवेकख्याति—जीव तथा कर्म के भेद-विज्ञान की यथार्थ अनुभूति ।^१

विवेकी—जिसे स्व तथा पर का भेद-विज्ञान प्राप्त होता है, योग की भाषा में उसे विवेकी कहा जाता है ।

योगसूत्र के अनुसार प्रकृति तथा तत्प्रसूत बुद्धि, अहंकार, देह, इन्द्रिय आदि से आत्मा नितान्त भिन्न है, ऐसा बोध होना विवेक-ख्याति है, जो दुःखों के आत्यन्तिक अभाव का कारण है । विवेकख्याति विवेक का परम उद्बुद्ध तथा शुद्ध रूप है ।^२

विश्रम—स्थिरता, टिकाव ।^३

विहिलष्ट—बिखरा हुआ । उन्मनीभाव उदित होने पर योगी को ऐसी अनुभूति होती है, मानो उसका शरीर बिखर गया हो, भस्म हो गया हो, विलुप्त हो । उसे ऐसा लगता है, मानो देह ही नहीं ।^४

विश्वविद्याकदम्बक—अंग-श्रुत, पूर्व-श्रुत, अंग-बाह्य, प्रकीर्णक आदि समग्र विद्यासमूह ।^५

विश्ववेदी—सर्वज्ञ, केवली ।^६

विष—(विष, गर, अनुष्ठान, तद्धेतु तथा अमृत) अनुष्ठान के पांच भेदों में प्रथम भेद । जिस अनुष्ठान का उद्देश्य लब्धियां या चामत्कारिक शक्तियां प्राप्त करना होता है, उसे विष अनुष्ठान कहते हैं ।^७

विषभागपरिक्षय—अनादि काल से जीव के साथ चला आता कुत्सित वासना-मय विष जहां सर्वथा क्षीण हो जाता है, वह मोक्ष रूप सर्वोच्च स्थान, सर्वोच्च लक्ष्य ।^८

१. अ. सा. ६.२६

२. एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरायणाः ।

धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥

—यो. दू. सा. १५८

स्थिरा दृष्टि में विद्यमान विवेकशील—स्व-पर-भेद-विज्ञान युक्त, धैर्यवान् पुरुष प्रत्याहार-परायण होते हैं—वे अपनी इन्द्रियों को खींचकर आत्मोन्मुख बनाये रखने में यत्नशील होते हैं । धर्मारोघना में उपस्थित होने वाली बाधाएं हटाने का प्रयास करते रहते हैं ।

३. यो. शा. ५.४१

४. यो. शा. १२.४२

५. ज्ञाना. ३२.१०

६. अ. सा. ५.१६२

७. यो. बि. १५५

८. यो. दू. स. १७६

विषयात्मानुबन्ध—आत्मोन्मुखी शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध उद्यम तथा शुद्ध अनुबन्ध—
निर्बाध रूप में शृङ्खलाबद्ध गतिशीलता ।^१

विषुवत् समय—जब दिवस तथा रात्रि एक समान—बारह-बारह घंटे के होते
हैं, वह विषुवत् काल कहा जाता है ।^२

विस्तरप्रिय—विस्तृत कथन, विवेचन, श्रवण में विशेष अभिरुचिशील ।^३

विघ्नोत्तोगमन—योग-साधना के प्रतिकूल प्रवाह में बहना ।^४

१. यो. बि. २११

२. विषुवत्समयप्राप्ती स्पन्दते यस्य चक्षुषी ।

अहोरात्रेण जानीयात् यस्य नाशमसंशयम् ॥

—यो. शा. ५.७६

विषुवत् काल—जब दिवस तथा रात्रि एक समान बारह-बारह
घंटे के होते हैं, में जिसके नेत्र स्पन्दित होते हैं—फड़कते हैं, निश्चय
ही उसकी मृत्यु होती है ।

३. विस्तरेणैव तुष्यन्ति केऽप्यहो विस्तरप्रियाः ।

संक्षेपरुचयश्चान्ये विचित्राश्चित्तवृत्तयः ॥

—ज्ञाना. ३.२६

कई विस्तार-प्रिय—विस्तार-रुचि व्यक्ति विस्तार से परितुष्ट
होते हैं तथा संक्षेप-रुचि संक्षेप को पसंद करते हैं । लोगों की चित्त-
वृत्तियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं ।

४. आत्म-संप्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्ध-कर्मणि ।

पाप-कर्मोदयादत्र भयं तदुपशान्तये ॥

विघ्नोत्तोगमने न्याय्यं भयादौ शरणादिवत् ।

गुर्वाद्याश्रयणं सम्यक् ततः स्याद् दुरितक्षयः ॥

—यो. बि. ३६४-६५

भूतकाल में आचरित अशुभ कर्मों के उदय के परिणाम-स्वरूप
साधक के मन में यदि यह भीति उत्पन्न हो जाए कि उस द्वारा शुरू
किये गये योगाभ्यास में कहीं कोई विघ्न न आ जाए, इस भीति को
मिटाने के लिए साधक को चाहिये कि वह आत्मावलोकन करे । यदि
उसे यह भान हो कि उसकी आत्मा योग-साधना के प्रतिकूल प्रवाह
में बह रही है तो जैसे भय उपस्थित हो जाने पर व्यक्ति उससे बचने
हेतु सुरक्षित स्थान में पहुंच जाता है, वैसे ही उस साधक को गुरुजन
आदि सत्पुरुषों की शरण में चले जाना चाहिये, जिससे भय टल
जाए ।

वीतरागाश्रय—वीतरागता पर आधारित, जीव के विशुद्धि-मूलक स्वरूप से
संपृक्त (सम्यक्-दर्शन) ।^१

वीतविभ्रम—मिथ्या भ्रांति रहित ।^२

वीरासन—बायां पैर दाहिनी जांघ पर तथा दाहिना पैर बाईं जांघ पर निहित
करने पर जो दैहिक स्थिति उपपन्न होती है, उसे वीरासन कहते हैं ।^३

वीर्ययोग—योग-पराक्रम का उदय ।^४

वीर्योत्प्लास—धर्मक्रिया में आंतरिक रुचिपूर्ण पराक्रम की अभिवृद्धि ।^५

वृत्तयुक्त—चारित्र्याश्रयक ।^६

वृत्ताधिक्य—अपने द्वारा स्वीकृत आचार-विधि में गुण—वैशिष्ट्य की
मान्यता ।^७

१. ध्या. स्त. ८२

२. एककित्वं प्रपन्नोऽस्मि यदाहं वीतविभ्रमः ।

तदैव जन्मसम्बन्धः स्वयमेव विशीर्यते ॥

—ज्ञाना. २, एकत्व-भावना १०

जब जीव भ्रान्तिरहित होकर यह चिन्तन करे कि मैं सर्वथा
एकाकी हूँ—अकेला हूँ, तब जन्म-मरण रूप संसार-सम्बन्ध स्वयं
विशीर्ण—नष्ट हो जाता है ।

३. यो. शा. ४.१२६

४. यो. श. ६४

५. अ. सा. १.५१

६. औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।

मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥

—यो. बि. ३५८

समुचित विधि-विधानपूर्वक चारित्र्य का पालन करने वाले
पुरुष का शास्त्रानुकूल तत्त्वचिन्तन एवं मंत्री, करुणा, प्रमोद और
माध्यस्थ भावनाओं का जीवन में सम्यक् स्वीकरण ज्ञानीजनों द्वारा
अध्यात्म कहा जाता है ।

७. गुणाधिक्यपरिज्ञानाद् विशेषेऽप्येतद्विष्यते ।

अद्वेषेण तदन्वेषां वृत्ताधिक्ये तथाऽऽत्मनः ॥

—यो. बि. १२०

कोई पुरुष दूसरों द्वारा स्वीकृत आचार के प्रति द्वेष-भाव न
रखता हुआ, उसे तुच्छ न मानता हुआ यदि अपने द्वारा स्वीकृत
आचार-विशेष की अधिक गुणयुक्त माने तो इससे कोई हानि नहीं है ।

आ. श्री कैला

वृत्ति—धृति—धैर्यं, श्रद्धा—आस्था, सुदिवदिषा—सत्तत्त्वचर्चा में अभिरुचि
तथा विज्ञप्ति—विशिष्ट ज्ञानानुभूति से युक्त अन्तवर्तन ।^१

वृत्तिबीज—चित्तवृत्तियों का मूल हेतु ।^२

वृत्तिसंक्षय—चित्तवृत्तियों का सम्यक् रूप में क्षय ।^३

वृत्तिसंक्षेपण—बाह्य तप के छः भेदों में तीसरा भेद । आहार के संदर्भ में
अनेक प्रकार की प्रतिज्ञाएं कर उसका संक्षेपण—अल्पत्व करने का
अभ्यासक्रम ।^४

वृद्धानुवृत्ति—वृद्धजनों की परम्परा का अनुवर्तन ।^५

वेदक—जानने वाला ।^६

वेद्यसंवेद्यपद—वेदने योग्य, जानने योग्य या अनुभव करने योग्य पद—स्थान,
तत्त्व । वस्तुतः जानने योग्य और साथ ही साथ प्राप्त करने योग्य
पद या स्थान परमात्मभाव है । संसारी जन प्रायः उससे विमुख रहते
हैं । पुण्योदयवश आत्मपराक्रमशील पुरुष योगाभ्यासरत होते हैं । यों वे
परमात्मभाव की ओर उन्मुख होते हैं, जो योग की भाषा में 'वेद्य-
संवेद्यपद' की ओर उन्मुख होना है ।^७

वेद्योच्छेद—वेदनीय कर्म का उच्छेद—क्षय ।^८

वैकल्य—भग्नता, दोषयुक्तता ।^९

वैक्रियिक—शरीर के पांच भेदों में दूसरा भेद । लघु, गु०, सूक्ष्म, स्थूल, एक-
रूप, अनेक रूप आदि विविध आकृतियों व क्रियाओं में परिणत होना
इस शरीर का अपना वैशिष्ट्य है ।^{१०}

वैयावृत्य—शुद्ध, सात्त्विक, चित्त तथा पवित्र आशय पूर्वक भावयोगी आचार्य,
सन्त, गुरु आदि पूज्य जनों, सात्त्विक पुरुषों की विधिवत् अपेक्षानुरूप
सेवा, परिचर्या ।^{११}

१. यो. दृ. स. ३७

२. यो. बि. ४२३

३. यो. बि. ३१

४. यो. शा. ४.८६

५. अ. सा. ७.४४

६. यो. बि. ४४१

७. यो. दृ. स. ६५

८. यो. मा. ३८

९. यो. बि. ३५६

१०. ज्ञाना. ३६.६७

११. यो. दृ. स. २६

वैराग्य-भावना—भव निर्वेद से उत्पन्न होने वाली त्यागमूलक, योगोत्पादक भावना ।^१

व्यभिचार-श्रियोग—वैपरीत्य का अभाव ।^१

व्यस्त—भिन्न-भिन्न रूप में अवस्थित ।^१

व्यान—पाँच पवनों में अन्तिम पवन । सम्पूर्ण देह में परिव्याप्त होकर रहने वाला । इसका वर्ण इन्द्र-धनुष जैसा माना गया है ।^१

व्याधृत्यद्योक्तभावत्व—एक पदार्थ में पूर्व पर्याय के विनाश, उत्तर पर्याय के उत्पाद तथा साथ ही साथ मूलतः ध्रुवता का ऐक्य ।^१

व्युच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति—सर्वोत्कृष्ट शुक्ल ध्यान, जो शैलेशी दशा—मेरु की ज्यों अप्रकम्प, निश्चल आत्मस्थिति में सधता है, जो (शैलेशी-दशा) चतुर्दश गुणस्थान में प्राप्त होती है ।^१

व्युत्थान—राग आदि संस्कारों का उज्जागरण ।^१

व्युत्सर्जन—उत्सर्ग (कायोत्सर्ग) ।^१

व्युपरम—विनिवृत्ति, वैराग्य ।^१

व्योमयोग—आकाश के समान निर्मल उपयोग ।^{१०}

व्योमरूप—आकाश की ज्यों विराट् ।^{११}

१. ध्या. श. ३०

२. यो. दृ. स. ३६

३. ज्ञाना. ३६.१८४

४. सर्वत्ववृत्तिको व्यानः शक्रकामुकसन्निभः ।

जेतव्यः कुम्भकाम्यासात् संकोचप्रसृतिक्मात् ॥

—यो. शा. ५.२०

व्यान वायु समग्र त्वत्वा में व्याप्त रहता है । उसका वर्ण इन्द्र-धनुष के सदृश है । संकोच—पूरक तथा प्रसार—रेचक प्राणायाम के क्रम से एवं कुंभक के अभ्यास से उसे जीतना चाहिए—नियंत्रित करना चाहिए ।

५. यो. बि. ४७१

६. ध्या. श. ८२

७. अ. सा. ७.१०

८. का. श. १४६५

९. अध्या. २.६४

१०. यो. मा. १२

११. यो. प्र. २८

श

शक्त्युद्रेक—आत्मशक्ति का प्रबल तथा विशिष्ट जागरण । आचार्य हरिभद्र ने योगसाधना में इसे बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है । उनके अनुसार इसका विषय, प्रभाव शास्त्रों में वर्णित उपायों से भी अतीत है—अग्रगामी है ।^१

शबरी—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में छठा दोष ।^२

शब्दब्रह्म—सकल-श्रुत-पारगामी ब्रह्मज्ञान स्वरूप शब्दब्रह्म—शास्त्रज्ञान ।^३

शब्दब्रह्म—परमात्मनोन्मुखी पावन वाक्-स्थिति ।^४

शमक—उपशम करने वाला ।^५

शमपरायण—निष्कषाय आत्मपरिणति, प्रशान्त भाव या समता में तन्मय—तल्लीन ।^६

शमसार—प्रशान्तभाव की प्रधानता—अत्यधिक शान्तिमय ।^७

शमसौख्य—अन्तःशान्ति की अनुभूति ।^८

शशाङ्क-मार्ग—चन्द्र-मार्ग, बाईं नाड़ी ।^९

शाट—कर्मों का आत्मप्रदेशों से पृथक् होना ।^{१०}

शातना—उत्सर्ग ।^{११}

१. यो. दृ. स. ५

२. का. श. १५६०

३. अ. सा. ५.७६

४. यो. शा. ८ २६

५. ज्ञाना. ४१.१३

६. एक एव तु मार्गोऽपि तेषां शमपरायणः ।

अवस्थाभेदभेदेऽपि जलधौ तीरमार्गवत् ॥

—यो. दृ. स. १२८

अवस्थाओं की भिन्नता होते हुए भी शम-परायण—निष्कषाय, प्रशांतभावपूर्ण साधना-मार्ग वास्तव में एक ही है । जैसे समुद्र तक पहुंचने वाले सभी मार्ग उसके तीर-मार्ग ही होते हैं ।

७. यो. दृ. स. ११२

८. यो. बि. ५४

९. यो. शा. ५.५७

१०. अ. सा. ६.१५५

११. का. श. १४६५

- शान्त—प्राणायाम का एक विशेष भेद । तालु, नासिका एवं मुख-द्वार से वायु का निरोध करना शांत प्राणायाम कहा जाता है ।^१
- शांतोदात्तत्व—शान्त, उदात्त भावों का उद्गम । सूक्ष्म ऊहापोह द्वारा वस्तु-स्वरूप को यथार्थ अनुभूति का प्रशस्त एवं उन्नत भाव ।^२
- शास्ता—आत्मानुग्राहक उपास्य पुरुष ।^३
- शास्त्रगर्भ—शास्त्रनिरूपित तत्त्व ।^४
- शास्त्रयोग—अपनी शक्ति के अनुसार प्रमादरहित, श्रद्धाभिनत, तीव्र बोधयुक्त साधक द्वारा अनुसृत योग, जो शास्त्रीय ज्ञान के साहचर्य के कारण अविकल—अखण्ड होता है, शास्त्रयोग कहा गया है ।^५
- शिवस्थान—सुषुम्ना-नाड़ी-वर्ती परम दिव्य स्थान ।^६
- शिववर्म—कल्याण का परम मार्ग, परम पद—मोक्ष ।^७
- शिवास्पद—परम कल्याणमय स्थान, मोक्ष ।^८
- शिवीभवन—मोक्ष-प्राप्ति ।^९

१. यो. शा. ५.८

२. यो. बि. १८६

३. यो. बि. १८

४. ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य तद्गम्भीरेण चेतसा ।

शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसंगतः ॥

—यो. बि. ३१७

धर्म, गुरु, देव, आत्मा, परमात्मा आदि के विषय में दुराग्रह का परित्यागकर एतत्सम्बन्धी शास्त्रगत निरूपण पर गंभीर चित्त से आलोचना पूर्वक चिन्तन करना चाहिए तथा कार्यकारिता एवं स्वरूप की दृष्टि से जो समुचित लगे, उसे ग्रहण करना चाहिए ।

५. यो. दृ. स. ४

६. यो. शा. ५.६१

७. यो. दृ. स. १७६

८. ज्ञाना, ३८.८४

९. यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थः स्थिरेतरैः ।

तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षैः शिवीभवेत् ॥

—ज्ञाना. २, एकत्व-भावना ६

जीव जब मोह के उदय से चेतन एवं जड़ पदार्थों के साथ अपना ऐक्य मानता है, तब वह अपना अपने द्वारा—अपने भावों द्वारा बन्धन करता है—कर्म-बन्ध करता है । यदि वह इसके विपरीत—अन्य पदार्थों से अपना ऐक्य नहीं जोड़ता तो वह शिव—परम कल्याण—मोक्ष का अधिकारी होता है ।

शिवोदय—समाधि की विशेष स्थिति ।^१

शीर्षोत्कम्पित—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में सोलहवां दोष । यक्षाविष्ट पुरुष की ज्यों अपना सिर कंपाते हुए—डुलाते हुए कायोत्सर्ग करना ।^२

शील—सञ्चारित्र्य ।^३

शुक्लध्यान—ध्यान के चार भेदों में चौथा भेद । बाह्य विषयों का सम्बन्ध होने के बावजूद जहां वैराग्यातिशय या आत्मस्वरूपोन्मुखता के कारण चित्त उनकी ओर आकृष्ट नहीं होता, उनमें प्रवृत्त नहीं होता, वह शुक्ल ध्यान है ।^४

शुक्लपाक्षिक—भिन्नग्रन्थि, जिसकी मोहप्रसूत मिथ्यात्वमय कर्मग्रंथि टूट गई है ।^५

शुक्लयोगोपचार—शुक्ल ध्यान का आसेवन ।^६

शुक्ललेश्या—शंख सदृश श्वेत तथा मिश्री से अनन्तगुण मिष्ट कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध से उत्पन्न आत्मपरिणाम ।^७

शुद्धनयस्थिति—जीव के शुद्ध सत्ताग्राही द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से वस्तु-स्वरूप की व्यवस्था ।^८

शुद्धपक्ष—जिसे किया जाना संभव न हो, वैसे अशक्य विषय में शुद्ध मार्ग का निरूपण ।^९

शुद्धरूप—निर्मल आत्मस्वरूप ।^{१०}

शुद्धलेश्या—शुक्ललेश्यात्मक परम शुद्ध—उज्ज्वल परिणाम-धारा ।^{११}

१. यो. बि. ४२२

२. का. श. १५६१

३. यो. दृ. स. ८८

४. एएण पगारेणं जायइ सामाइयस्स सुद्धिं त्ति ।

ततो सुक्कज्झाणं कमेण तह केवलं चेव ॥

—यो. श. ६०

इस प्रकार (पूर्व विवेचित रूप में) सामायिक—समत्व-साधना की शुद्धि—शुद्धावस्था निष्पन्न होती है । उससे क्रमशः शुक्ल-ध्यान सिद्ध होता है, कैवल्य प्राप्त होता है ।

५. यो. बि. ७२

६. यो. मा. २४

७. ध्या. श. ६६

८. अ. सा. ३.३५

९. अ. सा. ७.३४

१०. अ. सा. ७.५३

११. ज्ञाना. ३.२६

शुद्धाशय—निरवय, दोषवर्जित परिणाम ।^१

शुद्धिप्रक्षय—सम्यक् दृष्टि द्वारा प्रशस्त भावना आदि के माध्यम से कर्म-मल का विनाश ।^२

शुद्धोच्छा जीवन—विशुद्ध भिखावृत्ति से जीवनयापन ।^३

शुद्धोपयोग—अशुभ एवं शुभ उपयोग से अतीत, आत्मोन्मुख, शुद्ध, निर्बन्ध परिणमन ।^४

शुभाशय—पुण्यात्मक पवित्र भाव ।^५

शुभोपयोग—शुभ भावापन्न, पुण्योत्पादक प्रवृत्तिक्रम ।^६

शुभास्रव—पुण्यात्मक शुभ कर्म-पुद्गलों के आने का द्वार ।^७

शुश्रूषा सत् तत्त्व सुनने की तीव्र उत्कण्ठा, आकांक्षा—आन्तरिक भावना ।^८

शुष्कतर्कग्रह—निःसार तर्क की पकड़, निःसार तर्करूप अनिष्ट ग्रह या मगर-मच्छ ।^९

शून्य—बिंदु, अनुस्वार ।^{१०}

शैलेशी—मेरु पर्वत सदृश अप्रकम्प, अडोल आत्मस्थिति ।^{११}

१. यो. दृ. स. २६

२. अ. सा. २.१५

३. यो. शा. ३५

४. ज्ञाना. ३.२८

५. यो. बि. ३६६

६. अ. ध्या. २.१६

७. यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।

मैत्र्यादिभावनारूढं मनःसूते शुभास्रवम् ॥

—ज्ञाना. २ आस्रव-भावना ३

यम—अणुव्रत-महाव्रत रूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, प्रशम—कषाय-मान्द्य, निर्वेद—भव-वैराग्य, तत्त्व-चिन्तन तथा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य भावनाओं का अवलम्बन लिये मन शुभ आस्रव उत्पन्न करता है—पुण्य संचित करता है ।

८. यो. दृ. स. २१२

९. यो. दृ. स. १४७

१०. यो. शा. ८.६०

११. अन्य-संयोग-वृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा ।

अपुनर्भाव-रूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः ।

मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥

—यो. बि. ३६६-६७

शैलेश्य—मेरुसदृश निष्प्रकम्प, निश्चल सर्वात्मप्रदेशयुक्त आत्मस्थिति ।^१

शोभन—शुभ कर्म ।^२

श्रद्ध—सत् श्रद्धाशील योगाभ्यासी, अध्यात्मोपासक ।^३

श्रुत—ज्ञान के पांच भेदों में दूसरा भेद । श्रुतानुसारी ज्ञान । शब्द से अर्थ का और अर्थ से शब्द का ज्ञान करना, तत्सम्बद्ध अन्यान्य पक्षों पर विचार करना, उन्हें जानना श्रुतज्ञान है ।^४

श्रुतधर्म—आगम-समर्थित, मोक्षोन्मुख योगसाधनाक्रम ।^५

श्रुतशक्तिसमावेश—आगमज्ञान की शक्तिमत्ता, प्रभावकारिता का अन्तःसंस्थापन ।^६

श्रुतस्कन्ध—द्वादशांग आगम ।^७

श्रेणी—क्षपक श्रेणी । क्रोध, मान, माया व लोभ का क्षय—निर्मूल नाश करते हुए आगे बढ़ता विकास का सोपान ।^८

श्वसना-धारणा—वायवी धारणा ।^९

अन्य—आत्मेतर पदार्थों के संयोग से आत्मा में आविर्भूत होने वाली वृत्तियों का उस प्रकार का अवरोध, जिससे वे फिर उत्पन्न न हो पाएं, वृत्ति-संक्षय कहलाता है ।

वृत्ति-संक्षय से उत्तरोत्तर केवलज्ञान, शैलेशी अवस्था—मेरु सदृश अकम्प, अविचल स्थिति (मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों का संपूर्णतः निरोध), बाधा-विवर्जित, शाश्वत आनन्दमय मोक्ष-पद प्राप्त होता है ।

१. अ. सा. ५.१६२

२. यो. श. ८३

३. यो. दृ. स. १००

४. ध्या. स्त. ४४

५. यो. दृ. स. १६४

६. यो. दृ. स. १२५

७. ज्ञाना. १८.३१

८. यो. वि. २०

९. पिण्डस्थे पंच विज्ञेया धारणा वीर-वर्णिताः ।

संयमी यास्वसंमूढो जन्म-पाशान् निकृन्तति ॥

पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाऽथ वाहणी ।

तत्स्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ॥

—ज्ञाना. ३७.२-३

भगवान् महावीर ने पिण्डस्थ ध्यान की पांच धारणाएं प्रतिपादित की हैं, जिनमें विवेकपूर्वक अभिरत (तन्मय) होकर संयमी

श्लिष्ट—स्थिरता के कारण आनन्द-निमग्न (चित्त) ।^१

ष

षट्चक्र—हठयोग-सम्मत देहस्थ छः चक्र—मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धि चक्र, आज्ञा चक्र ।^२

षोडशच्छन्दैवपद्म—योग-शास्त्रानुसार काल-ज्ञान के संदर्भ में अभिमत वाम नेत्रस्थ सोलह पंखुड़ियों वाला चन्द्र सम्बन्धी कमल ।^३

स

संक्रम—प्रवेश ।^४

संक्रान्ति—संक्रमण, आवर्तन-परिवर्तन ।^५

संक्षेपरुचि—संक्षिप्त कथन, विवेचन में रुचिशील ।^६

संगसंन्यास—आसक्ति एवं परिग्रह का सम्यक् रूप में त्याग ।^७

संघात—काय ।^८

साधक जन्म-मरण का बन्धन काट डालता है । वे पांच धारणाएं इस प्रकार हैं—१. पाथिवी, २. आग्नेयी, ३. श्वसना (वायवी), ४. वारुणी तथा ५. तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू) ।

१. यो. शा. १२.४

२. यो. प्र. १५

३. यो. शा. ५.१२०

४. यो. शा. ५.४१

५. यो. मा. २५

६. शाना. ३.२७

७. क्षमा क्रोधस्य मानस्य मार्दवं त्वार्जवं पुनः ।

मायायाः संगसंन्यासो लोभस्यते द्विषः क्रमात् ॥

—ज्ञाना. २ संवर-भावना ६

क्षमा, मृदुता, ऋजुता—सरलता एवं आसक्ति-वर्जन क्रमशः क्रोध, मान, माया तथा लोभ के शत्रु हैं ।

८. का. श. १४६०

संज्ञा—मुंह, आंख, भौंह आदि द्वारा किया जाने वाला तथा कंकड़ आदि फेंक कर किया जाने वाला संकेत ।^१

संज्ञान-चक्षु—सम्यक्-ज्ञान-रूपी नेत्र ।^२

संज्ञा-विष्कम्भण—आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, क्रोध-संज्ञा, मान-संज्ञा, माया-संज्ञा, लोभ-संज्ञा, ओघ (सामान्य लोक-प्रवाह के अनुरूप, गतानुगतिक जीवन)-संज्ञा तथा लोक-संज्ञा (लोकैषणा) का निरोध ।^३

संज्ञी—समनस्क ।^४

संत्रास—पापपूर्ण कार्यों से मन में भीति एवं खेद का अनुभव ।^५

संपराय विद्योग—कषाय-परिवर्जन ।^६

संप्रमुग्ध—वस्तुस्वरूप का निश्चय कर पाने में अक्षम ।^७

संश्रइन—अन्तर्जल्प ।^८

संयतासंयत—चतुर्दश गुणस्थानों में पांचवां गुणस्थान, जहां अणुव्रत आदि के रूप में अपने सामर्थ्य के अनुकूल संयम एवं विरति का स्वीकार विहित है ।^९

१. संज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम् ।

वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते ॥

—यो. शा. १.४२

संज्ञा आदि—मुंह, आंख, भौंह आदि के हाव-भाव द्वारा अथवा कंकड़ आदि वस्तु-प्रक्षेपण द्वारा अपने अभिप्राय-कथन का संकेत तक न करते हुए मौन का अवलम्बन, वाग्वृत्ति—वाणी सम्बन्धी व्यापार का संवरण—निरोध वाक्-गुप्ति—वचन-गुप्ति कहा जाता है ।

२. संसारादस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः ।

संज्ञानचक्षुषा सम्यक् तन्नैगुण्योपलब्धितः ॥

—यो. बि. ३४१

सम्यक्-ज्ञान-रूप नेत्र द्वारा भलीभांति देखने पर यह संसार गुणशून्य—निस्सार प्रतीत होता है । अतः द्रष्टा को इससे पारमार्थिक—यथार्थ रूप में वैराग्य हो जाता है ।

३. यो. वृ. स. २५

४. ज्ञाना. २, बोधिबुल्लभ भावना ३

५. यो. वृ. स. ४६

६. यो. बि. ३७७

७. यो. बि. १५८

८. यो. मा. १६

९. ज्ञाना. २५.३६

संयति—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में बारहवां दोष । सूतीवस्त्र या कम्बल द्वारा देह को साध्वी की ज्यों ढककर खड़ा होना ।^१

संयम—अहिंसा, सत्य, अचीर्यं, ब्रह्मचर्यं तथा अनासक्ति—अपरिग्रह का सम-वेत रूप संयम है ।^२ पातंजल योग के अनुसार किसी एक ही ध्येय में धारणा, ध्यान एवं समाधि की अवस्थिति संयम है ।^३

संयुक्ताधिकरण—अनर्थ-दण्ड-विरमण व्रत के पांच अतिचारों में प्रथम अति-चार । हल, गाड़ी, ऊखल, मूसल, धनुष, बाण प्रभृति हिंसोत्पादक साधनों को तैयार कर रखना आदि इस अतिचार में समाविष्ट हैं ।^४

संयोग—संयम आदि से अनुप्राणित सम्यक् योग, जो समग्र सांसारिक कार्य-व्यापार से पार्थक्य करनेवाला तथा मोक्ष से जोड़ने वाला है ।^५

संरक्षणानन्द—विषयों के संरक्षण में—उन्हें चिरन्तन बनाए रखने की लालसा में आनन्द मानना ।^६

संलेखना—आत्मशुद्धि हेतु जीवन भर के लिए आहार-त्याग ।^७

संविग्नमानस—मोक्ष एवं तत्प्रापक मार्ग में अभिरुचिशील ।^८

१. का. श. १५६०-६१

२. (क) अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमसंगता ।

इत्येतानि व्रतान्यत्र संयमः पंचधा स्मृतः ॥

—यो. प्र. १३५

अहिंसा, सत्य, अचीर्यं, ब्रह्मचर्य एवं असंगता—अमूर्च्छा (अपरिग्रह)—ये व्रत हैं । इनके अनुसार संयम पंचकोटिक है ।

(ख) त्रयमेकत्र संयमः ।

—पा. यो. सू. ३.४

किसी एक ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि—तीनों का होना संयम कहलाता है ।

३. यो. शा. ३.११४

४. यो. प्र. १३४

५. ज्ञाना. २६.३५

६. यो. शा. ३.१४८-५२

७. अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः संविग्नमानसाः ।

कीर्त्यन्ते यमिनो जन्म-संभूतसुखनिःस्पृहाः ॥

—ज्ञाना. ५.१

जो संयमी पुरुष सत् तत्त्व को निश्चित—यथावत् रूप में जानते हैं, जिनके मन में मोक्ष की तीव्र उत्कंठा है, जो सांसारिक सुखों में सर्वथा इच्छारहित हैं, वे वास्तव में धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं ।

संवित्—ज्ञान ।^१

संवृतात्मा—संसार के कारणभूत कर्म-समवाय से विरत ।^२

संवृतास्त्रवद्धार—आस्त्रवद्धारों—कर्मगमन के मार्गों का संवर्ण करने वाला ।^३

संवृति—संवरण, अवरोध ।^४

संवृत्ति—व्युत्पत्ति ।^५

संवेग—योगबीजों के श्रवण कर लेने पर साधक के मन में उत्पन्न भावो-
ल्लास आत्मभाव की ओर सोत्साह उन्मुखता ।^६

संवेगगर्भ—मोक्षाभिलाष एवं भववैराग्य के उच्च भाव से युक्त ।^७

संसारमोक्षक—प्राण-वियोजन द्वारा वर्तमान जीवन के दुःखों से छुटकारा
दिलाने की मान्यता रखने वाला एक प्राचीन संप्रदाय ।^८

संसारातीत तत्त्व—संसार—आवागमन या जन्म-मरण की परंपरा से
अस्पृष्ट परम तत्त्व—मोक्ष या निर्वाण ।^९

संसारातीतमूर्ति—संसार से पृथग्भूत—जन्म-मरणरूप आवागमन से सर्वथा
विरहित ।^{१०}

संस्थान—आकार ।^{११}

१. यो. बि. ४४४

२. असंयममयैर्बाणैः संवृतात्मा न भिद्यते ।

यमी यथा सुसन्नद्धो वीरः समरसंकटे ॥

—ज्ञाना. २ संवर-भावना ४

जिरह-बख्तर आदि से भली भांति सुसज्जित योद्धा जैसे युद्धोप-
द्रव में शत्रु के बाणों से विद्ध नहीं होता, उसी प्रकार जो पुरुष संवर-
युक्त होता है, वह असंयम-मय बाणों से उत्पीड़ित नहीं होता ।

३. का. श. १४७६

४. यो. शा. १.४२

५. यो. बि. ४०४

६. यो. वृ. स. २६

७. यो. बि. १६०

८. अ. सा. २.४६

९. यो. वृ. स. १२६

१०. यो. मा. ३७

११. ध्या. श. ५२

संस्थान-विचय—धर्म-ध्यान के चार भेदों में चौथा भेद । अनादि-अनन्त, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, परिणामि-नित्य लोक के आकार पर एकाग्र चिन्तन ।^१

सांपरायिक—कषाय-प्रेरित आस्रव से उत्पन्न ।^२

सांसिद्धिक मल—आत्मा के साथ अनादि-काल से चले आते कर्म-संस्कार ।^३

सकल—कलायुक्त, अंशयुक्त, आभायुक्त ।^४

सकाम-निर्जरा—कर्म-क्षय हेतु की जाने वाली तपस्या आदि क्रियाओं से उत्पन्न होने वाली निर्जरा ।^५

सगुण—गुणसहित, आकारसहित ।^६

सच्छूद्धा—सम्यक् आस्था, सत्य विश्वास ।^७

सच्छास्त्रपरतन्त्रता—सत् शास्त्रों के आदेश का अनुसरण ।^८

सच्चित्तमारण—चित्त की पवित्रता का नाश ।^९

सत्तम—सर्वोत्तम दशायुक्त ।^{१०}

सत्त्व—सांख्य-सम्मत तीन गुणों में एक गुण, जो स्वप्रकाशक एवं समुद्बोधक माना गया है ।^{११}

सत्त्वपुद्गलयोग—आत्मा और पुद्गल का संयोग ।^{१२}

सत्त्व-सन्तान—प्राणियों के सततप्रवाही विस्तार या स्रोत का आधार, जगत् ।^{१३}

१. अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः ।

आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थान-विचयः स तु ॥

—यो. शा. १०.१४

जिस ध्यान में अनादि-अनन्त, स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मक—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त लोक-स्वरूप का चिन्तन किया जाता है, वह संस्थान-विचय धर्म-ध्यान कहा जाता है ।

२. यो. बि. ३७६

३. यो. बि. १६७

४. यो. प्र. २६

५. यो. शा. ४.८७

६. यो. प्र. ३१

७. यो. दृ. स. १७

८. यो. बि. २१०

९. यो. बि. १५६

१०. यो. दृ. स. १८६

११. यो. प्र. ६८

१२. यो. बि. ७६

१३. ज्ञाना. १.४१

सत्त्वानन्द—धर्ममेघ समाधि, जहां आत्मा को परम आनन्द-निमग्नता की अनुभूति होती है ।^१

सत्त्वार्थकृत्—वह प्रवृत्ति, जिसमें प्राणी मात्र का हित—श्रेयस् सन्निहित हो ।^२

सत्त्वोत्खण्डत्व—अध्यात्मदीप्तिमय चिन्तन ।^३

सदाशय—सात्त्विक भाव ।^४

सदाशिव—सब समय कल्याणरूप—मंगलरूप ।^५

सद्गोचरादिसंशुद्ध—शुद्ध ज्ञान तथा अनुभूति पर आधारित ।^६

सद्गुणप्रत्ययावृत्ति—अपनी आत्मा या साध्य के अनुरूप बोध अथवा निर्मल मति युक्त उपयोग का पुनः पुनः अभ्यास ।^७

सद्दृष्टि—योगाभ्यास में अभिरुचिशील पुरुष, जिनकी दृष्टि सत्त्वोन्मुख हो ।^८

१. यो. बि. ४२२

२. कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायशः क्वचित् ।

निश्चितं सारवच्चैव किन्तु सत्त्वार्थकृत् सदा ॥

—यो. दृ. स. १४२

सत्पुरुष—सम्यक् दृष्टियुक्त पुरुष कुत्सित दृष्टियुक्त पुरुषों की तरह निःसार वचन नहीं बोलते । वे संदेहरहित, सारयुक्त तथा प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी वचन बोलते हैं ।

३. यो. बि. २०८

४. इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्ववश्वणतत्परः ।

प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्रपद्यते ॥

—यो. दृ. स. ६०

सात्त्विक-भावोपेत साधक तत्त्वोपदेश सुनने में तत्पर रहता है । वह आत्मबल द्वारा धर्म को प्राणों से भी बढ़कर समझता है ।

५. यो. दृ. स. १३०

६. मोक्षहेतुत्वमेवास्य किन्तु यत्नेन धीधनः ।

सद्गोचरादिसंशुद्धं मृग्यं स्वहितकांक्षिभिः ॥

—यो. बि. ४

योग मोक्ष का कारण है । वह सद्ज्ञान, आत्मानुभव आदि द्वारा परिष्कृत है । आत्म-कल्याण के अभिलाषी, प्रज्ञाशील पुरुषों को उसका परिशीलन—अभ्यास करना चाहिए ।

७. अ. सा. ५.१०८

८. यो. दृ. स. १५

- सद्देशनागम—उत्तम धर्मदेशना तथा आगमसंग्रथना ।^१
 सद्योगभव्य—उत्तम योग में संप्रवृत्त भव्य पुरुष ।^२
 सद्बृत्तवाच्यता—सदाचरण में दूषितता ।^३
 सनातन—देवाधिदेव परमात्मा ।^४
 संतान-भेद—निरन्तर उत्पद्यमान एकसदृश क्षणों की परम्परा का उच्छेद ।^५
 सप्तक्षेत्री—पोषधशाला, धर्मस्थान, आगम, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका
 रूप धर्म के सात क्षेत्र ।^६
 समतानुवेध—समता-भाव में अन्तःस्थितता ।^७
 समन्तभद्रत्व—सर्वथा कल्याणमयता, सर्वोत्कृष्टता ।^८
 समज्ञ—सत् शास्त्रों का वेत्ता ।^९
 समयनीति—योग सम्बन्धी शास्त्रों द्वारा संदर्शित मार्ग ।^{१०}
 समयग्रह—बाह्य परंपरा-विशेष में दृढ़ राग, आग्रह ।^{११}

१. यो. बि. ४२६

२. यो. बि. २४१

३. नहि स्वप्नेऽपि संजाता येषां सद्बृत्तवाच्यता ।

यौवनेऽपि मता वृद्धास्ते धन्याः शीलशालिभिः ॥

—ज्ञाना. १५.७

जिनका उत्तम आचरण स्वप्न में भी मलिन, निन्दित नहीं होता, वैसे पुरुष युवावस्था में भी वृद्ध हैं, धन्य हैं । शीलवान् सत्पुरुष ऐसा मानते हैं ।

४. जिनेन्द्रो जल्प्यते जैनैः बुद्धः कृत्वा च सौगतैः ।

कौलिकैः कोल आख्यातः स एवायं सनातनः ॥

—यो. प्र. ३४

एक ही सनातन—शाश्वत परमात्मा जैनों द्वारा जिनेन्द्र, बौद्धों द्वारा बुद्ध तथा कौलिकों द्वारा कोल नाम से अभिहित हुए हैं ।

५. अ. सा. ४.३४

६. यो. शा. ३.११६

७. अध्या. ४.२०

८. यो. बि. २१६

९. यो. शा. ६६

१०. यो. बि. ४

११. जातिलिगविकल्पेन येषां च समयग्रहः ।

तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥

—स. श. ८६

जाति, लिग—बाह्य चिह्न, वेष के विकल्प के आधार पर जो

समरसीभाव—आत्मा का अभिन्नतया परमात्म-स्वरूप में लय, ध्याता और ध्येय का ऐकरूप्य ।^१

समवगमदुद्धाधारसम्बन्धन—सम्यक् ज्ञानरूपी सुदृढ़ आधार का सम्बन्ध ।^२

समवसृति—समवसरण, तीर्थंकरों की धर्मदेशना हेतु समायोजित परिषद् ।^३

समसंज्ञ—जीवन-मृत्यु, प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल आदि में समानता का भाव रखने वाला ।^४

अपने समय—अपने द्वारा स्वीकृत धार्मिक पथ—आम्नाय-विशेष का आग्रह रखते हैं, वे आत्मा का परम पद—परमात्म-पद प्राप्त नहीं कर सकते ।

१. अमूर्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।

निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम् ॥

इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः ।

तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्य-ग्राहक-वर्जितम् ॥

अनन्यशरणीभूय स तस्मिन् लीयते तथा ।

ध्यातु-ध्यानोभयाभावे, ध्येयेनैक्यं तथा व्रजेत् ॥

सोऽयं समरसीभावस्तवेकीकरणं मतम् ।

आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥

—यो. शा. १०.१-४

अमूर्त—आकृतिरहित, चिन्मय—आनन्दमय, निर्विकार, सिद्ध परमात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान कहा जाता है ।

उनके भावमय स्वरूप का अवलम्बन कर अनवरत स्मरण—ध्यान करता हुआ योगी ग्राह्य-ग्राहक के भेद से अतीत तन्मयत्व-भाव प्राप्त करता है ।

तन्मयता-प्राप्त योगी किसी का आश्रय (अवलम्बन) नहीं लेता हुआ परमात्म-भाव में इस प्रकार लीन हो जाता है कि वहां ध्याता और ध्यान—दोनों का अभाव हो जाता है, ध्येय—परमात्म-स्वरूप के साथ वह ऐक्य प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार आत्म-भाव का परमात्म-भाव के साथ ऐक्य—आत्मा का अपृथक् रूप में—पृथक् (अलग) न रहते हुए परमात्म-भाव में लीन हो जाना समरसीभाव कहा जाता है ।

२. यो. मा. १२

३. यो. शा. ८.६-१७

४. का. श. १५६२

समाचारविशुद्धि—शास्त्रानुमोदित सम्यक् आचार की विशुद्धता—विहित आचार का अत्यन्त शुद्ध रूप में पालन ।^१

समाधि—ध्यान में गहरी तन्मयता के अर्थ में योगदृष्टि-समुच्चय में इसका प्रयोग हुआ है । वैसे समाधि पातंजल योग के आठ अंगों में अन्तिम है, जहाँ साधक को ध्यानावस्था में ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है, चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है ।^१

समाधितन्त्र—योगसमाधि—प्रतिपादक ग्रंथ ।^१

समाधिराज—नैराध्यवादी दर्शन का प्रतिपादक एक प्राचीन, अनुपलब्ध ग्रन्थ ।^१

समान—पांच प्रकार के पवनों में तीसरा पवन, जो अन्न-जल आदि से निर्मित रस को देह के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में पहुंचाने का कार्य करता है ।^१

समापत्ति—गुरुभक्ति के प्रभाव से जनित परमात्म-स्वरूप की अनुभूति ।^१

समारोप—‘स्व’ पर अन्य वस्तु का, अन्य वस्तु पर ‘स्व’ का आरोप करते रहने की वृत्ति—अवेद्यसंवेद्यपद में स्थिति ।^१

समिति—गमनादि क्रियाओं का संयमपूर्ण आचरण ।^१

समुद्घात—(केवलि-समुद्घात) आयु की अपेक्षा नाम, गोत्र एवं वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक होने पर केवली द्वारा उनके समीकरण हेतु किया गया आत्म-प्रदेशों का लोकव्यापी विस्तार ।^१

१. अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात् समाचारविशुद्धितः ।

प्रियो भवति भूतानां धर्मेकाग्रमनास्तथा ॥ —यो. दृ. स. १६३

कान्ता-दृष्टि में विद्यमान साधक धर्म की महत्ता तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सब प्राणियों को प्रिय—कान्त (मनोज्ञ) प्रतीत होता है । वह धर्म में एकाग्र-चित्त—तल्लीन होता है ।

२. यो. दृ. स. ८८

३. स. श. १०५

४. यो. बि. ४५६

५. यो. शा. ५.१३

६. यो. दृ. स. ६४

७. यो. दृ. स. ७५

८. का. श. १५१२

९. आयुःकर्मसकाशादधिकानि स्युर्यदान्यकर्माणि ।

तत्साम्याय तदोपक्रमते योगी समुद्घातम् ॥ —यो. शा. ११.५०

यदि आयुष्य-कर्म की अपेक्षा अन्य—नाम-कर्म, गोत्र-कर्म तथा वेदनीय-कर्म की स्थिति अधिक होती है, तो उसके समीकरण के लिए केवलि-समुद्घात करते हैं ।

संप्रज्ञात-समाधि—वह समाधि, जिसमें योगी को ध्येय वस्तु के स्वरूप का सम्यक्तया ज्ञान हो जाता है ।^१

सम्मद—हर्ष ।^{१२}

सम्मोही—कुटुम्ब आदि के प्रति अति ममत्वपूर्ण (सम्मोहिनी) भावना ।^१

सम्यक्त्व—विपरीत अभिनिवेश वजित दृष्टि, यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान ।^१

सम्यक्प्रत्ययवृत्ति—शास्त्रों में सम्यक् श्रद्धा ।^१

सम्यग्योगसिद्धि—योग-साधना में समीचीन सफलता ।^१

सयोग-केवली—त्रयोदश गुणस्थानवर्ती, योग—मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्ति से युक्त सर्वज्ञ ।^१

सयोगी परमेश्वर—त्रयोदश गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली, जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति सहित होते हैं ।^१

सरूपोपश्रुति—उपश्रुति से काल-निर्णय के संदर्भ में एक प्रक्रिया । जो जिस रूप में श्रुति-विषय हो—सुनाई दे, उसी के अनुरूप अभीष्ट अर्थ का प्राकट्य ।^१

सर्ग—उद्भावन ।^{१०}

सर्वज्ञ-प्रतिपत्ति—केवलज्ञानी की भक्ति, आराधना ।^{११}

सर्वज्ञवादी—सर्वज्ञ कहे जाने वाले आप्त पुरुष ।^{१२}

सर्वज्ञाभिमन्त्र—ॐ श्रीं ह्रीं अहं नमः ।^{१३}

सर्वसत्त्वप्रमोद—समग्र जीवों में आनन्द, प्रसन्नता ।^{१४}

१. यो. बि. ४१६

२. यो. मा. ५

३. ज्ञाना. ४.४१

४. ध्या. स्त. ८५

५. यो. बि. २१०

६. यो. बि. १६

७. ध्या. श. ६४

८. ज्ञाना. ३६.१-८

९. यो. शा. ५.१६५

१०. यो. बि. १०३

११. अ. सा. ५.६६

१२. यो. दू. स. १०८

१३. यो. शा. ८.४३

१४. यो. मा. २७

सर्वसंन्यास—योगी की वह परमोत्तम साधनावस्था, जहां आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ छूट जाता है ।^१

सर्वाक्षपाटव—सब (पांचों) इन्द्रियों की पटुता—स्वस्वविषय-क्षमता, परिपूर्ण पांचों इन्द्रियां ।^२

सर्वार्थव्याप्यवृत्ति—सब पदार्थों में व्याप्त होने योग्य वृत्ति युक्त ।^३

सर्वावरणविगम—सब कर्मावरणों का अपगम—विनाश ।^४

सर्विकल्प समाधि—शुभोपयोगमय आत्मस्थिति ।^५

सस्पन्द—स्पन्दनयुक्त, गतिशील, क्रियापरिणत ।^६

सहजाल्पमलत्व—सहज रूप में कर्म-कलुषता का अल्पत्व ।^७

सहजावस्थिति—आत्मा की स्वाभाविक दशा ।^८

साकार-ध्यान—पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वारुणी तथा तत्त्वभू संज्ञक धारणाओं से अनुप्रेरित, पिण्ड या आकृति विशेष पर समाश्रित, अवलम्बित ध्यान ।^९

सातरूप—प्रिय एवं सुखप्रद ।^{१०}

१. यो. दृ. स. ११

२. यो. शा. ४.१०८

३. यो. मा. ३७

४. ज्ञाना. २, एकत्व-भावना ११

५. अध्या. २.१६

६. स. श. ६७

७. यो. बि. १५२

८. भवभ्रान्तिपरित्यागादानन्दैकरसात्मिका ।

सहजावस्थितिः साधोरयं मोक्षपथः स्मृतः ॥

—यो. प्र. ५९

साधक की जागतिक भ्रान्ति के परित्याग से प्रादुर्भूत, एकमात्र आध्यात्मिक आनन्द के रस से ओतप्रोत सहजावस्था मोक्ष-पथ है ।

९. यो. प्र. १२४

१०. ये जाताः सातरूपेण पुद्गलाः प्राङ्मनःप्रियाः ।

पश्य पुंसां समापन्नः दुःखरूपेण तेऽधुना ॥

—ज्ञाना. २, अनित्य-भावना ४४

आत्मन् ! देखो, जो पुद्गल पहले जिनके लिए मनःप्रिय—मनोज एवं सुखप्रद थे, वे ही अब दुःखरूप में परिणत हो गये हैं । (इस संसार में सतत सुख कहां है ?)

सातद्विरसलम्पट—सातवेदनीय-जनित सुखों तथा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियों के रस—विलास में विमुग्ध ।^१

साताबन्ध—सुखोपलब्धि ।^२

सात्मीकृतप्रवृत्ति—शुद्ध आत्मस्वरूप, आत्मतत्त्व जिस प्रकार अनुभूति में आ सके, तदनुरूपक आचरण में गतिशीलता—संप्रवर्तन ।^३

साधनोपाय—आराधना एवं भक्ति के उपक्रम ।^४

साधुसमयमद्भाव—आप्तोपदिष्ट शास्त्र द्वारा निरूपित सिद्धान्त ।^५

सानाथ्य—प्रभुत्व, स्वामित्व ।^६

सान्निपातिक भाव—जीव के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक भावों के पारस्परिक संयोग से उत्पन्न भाव ।^७

सानुबन्ध—उत्तरोत्तर शृंखलाबद्ध विकासोन्मुख स्थिति युक्त ।^८

सानुबन्धफलावाप्ति—एक से एक जुड़े हुए शृंखलानुगत अभ्युदयमूलक फलों का प्राप्त होते जाना । योग-दृष्टि-समुच्चय के अनुसार फलावंचक योग में साधक के ऐसी स्थिति निष्पन्न होती है ।^९

सापाय—भ्रंश या पतन की आशंका युक्त । आचार्य हरिभद्र ने मित्रा, तारा, बला एवं दीप्रा—इन चार दृष्टियों को सापाय कहा है । यहां यह ज्ञातव्य है, इन दृष्टियों में साधक का अवश्य पतन होता ही हो, ऐसा नहीं है ।^{१०}

१. ज्ञाना. ४.५१

२. यो. बि. ४८७

३. यो. दृ. स. १७८

४. यो. दृ. स. ११४

५. मुत्तू लीनगन्नं उद्धूण य साधुसमयसम्भाव ।

सम्मं पर्यादृष्ट्यं बुहेण मइनिउणबुद्धीए ॥

—यो. बि. १६

लोक-संज्ञा—गतानुगतिक जन-प्रवाह का परित्याग कर सत्-शास्त्र-प्रतिपादित सत्-सिद्धान्त स्वीकार कर बुद्ध—बोधयुक्त, विवेक-शील पुरुष को निपुणबुद्धिपूर्वक—कौशलपूर्वक साधना में भलीभांति प्रवृत्त होना चाहिए ।

६. यो. मा. १०

७. ज्ञाना. ६.४२

८. यो. दृ. स. १३५

९. यो. दृ. स. २२१

१०. यो. दृ. स. १६

सामर्थ्ययोग—जिसमें शक्ति के उद्रेक का प्राबल्य रहता है, आत्मसामर्थ्य, अन्तःपराक्रम विशेषरूप से उद्बुद्ध होता है, अतएव जिसका विषय शास्त्र-प्रतिपादित सीमारेखा को अतिक्रान्त होता है, वह सामर्थ्य-योग कहा गया है। यह शास्त्रीय विधि-विधान के स्थान पर स्वानुभूति-प्रधान होता है।^१

सामायिक शुद्धि—समत्व-साधना की विकासमूलक प्रगति।^२

साम्प्रतेऽभी—अतीत, अनागत मूलक चिन्तन से रहित, केवल वर्तमानदर्शी।^३

साम्यैकसिद्धौषध—समता से सिद्ध आत्मोत्कर्षकरी भाव रूप दिव्य औषधि।^४

सार्वतान्त्रिक—सर्वशास्त्र-सम्मत।^५

सालम्ब—किसी ध्येय-विशेष पर अवलम्बित, आश्रित ध्यान।^६

सावद्यपरिहार—अशुभ, अकुशल या अपुण्यात्मक प्रवृत्तियों का परित्याग।^७

सावद्यपर्युदास—सब प्रकार की पाप-प्रवृत्तियों से दूरवर्ती।^८

सितसंन्यान—उज्ज्वल ध्यान में अवस्थित।^९

सिद्धक्षेत्र—वे स्थान, जहां महापुरुषों ने ध्यान-साधना द्वारा सिद्धत्व प्राप्त

१. यो. दू. स. ५

२. यो. श. १६

३. एतद्वन्तोऽत एवेह विपर्यासपरा नराः ।

हिताहितविवेकान्धाः खिद्यन्ते साम्प्रतेक्षिणः ॥

—यो. दू. स. ७८

अवेद्य-संवेद्ययुक्त पुरुष विपर्यासपर—सत्य के प्रतिकूल बुद्धि तथा वृत्ति रखने वाले, हित, अहित के विवेक में अन्ध—अयोग्य और केवल वर्तमानदर्शी होते हैं। अपने अज्ञान के कारण वे खिन्न—दुःखित रहते हैं।

४. अध्या. ४.४

५. अध्या. १.५१

६. ज्ञाना. ३३.४

७. यो. दू. स. ५६

८. यद् विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम् ।

तद् वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥

—ज्ञाना. ८.१

जो विशुद्धि का परमोत्तम स्थान है, योगी युरूप जिसे अपना जीवन मानते हैं, जो सब प्रकार की सावद्य—पापयुक्त प्रवृत्तियों से दूर है, वैसा आचार सम्यक् चारित्र्य कहा जाता है।

९. यो. शा. ५.१३३

किया ।^१

सिद्धयन्तरांगसंयोग—अन्य सिद्धियों के हेतुओं का संयोग ।^२

सिद्धयविरह—मोक्ष का शाश्वत लाभ ।^३

सिद्धरस—वैज्ञानिक प्रक्रिया से सिद्ध किया हुआ रसायन, जिसके स्पर्श से लोहा स्वर्ण बन जाए ।^४

सिद्धसाध्यता—जो साधने योग्य होता है, उसे साध्य कहा जाता है । साध्य का भावात्मकस्वरूप साध्यता है । पारस्परिक वाद-प्रतिवाद, विचार-विमर्श की वह स्थिति, जहां एक पक्ष द्वारा प्रस्तुत साध्य सिद्ध हो जाता हो, उसे सिद्धसाध्यता कहा जाता है ।^५

सिद्धात्मा—परम शुद्ध आत्मस्वरूप, सिद्धावस्था या मोक्ष-प्राप्त आत्मा ।^६

सिद्धि—आचार्य हरिभद्र द्वारा योगविशिका में बताये गये योग के भेदों में एक भेद । सिद्धि-योग के सध जाने पर योगी के जीवन में एक अद्भुत विभूति उत्पन्न हो जाती है, जिसका औरों पर सहज प्रभाव पड़ता है ।^७

सिरा—भूमिवर्ती जल-प्रणालिका, जो जल के स्रोत का मूल हेतु होती है । योग-दृष्टि-समुच्चय में शुश्रूषा को योग की उद्गमरूपा मूल प्रणा-

१. सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते ।

कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते ॥

—ज्ञाना. २८.१

सिद्धक्षेत्र—जहां बड़े-बड़े सत्पुरुष ध्यान, साधना एवं तपश्चरण द्वारा सिद्ध हुए हों, तीर्थंकर आदि पुराण—प्राचीन, महान् पुरुषों ने जिनका आश्रय लिया हो, जहां प्रवास किया हो, जो तीर्थंकरों के कल्याणक—जन्म, दीक्षा, कैवल्य एवं मुक्ति आदि से सम्बन्धित हों, ऐसे महान् तीर्थों में ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है ।

२. यो. बि. २३५

३. यो. श. १०१

४. श्रयते सुवर्णभावं सिद्धरसस्पर्शतो यथा लोहम् ।

आत्मध्यानादात्मा परमात्मत्वं तथाऽऽप्नोति ॥

—यो. शा. १२.१२

जैसे सिद्धरस—पारद-निष्पन्न सिद्ध रसायन के स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा का ध्यान करने से आत्मा परमात्मा बन जाता है ।

५. यो. दृ. स. २०३

६. यो. दृ. स. १३०

७. यो. बि. ६

लिका के रूप में सिरा से उपमित किया गया है ।^१

सुखदुःख-तितिक्षा—कायोत्सर्ग से होने वाले पांच लाभों में तीसरा लाभ ।

सुख एवं दुःख को समभाव से सहन करने की क्षमता का विकास ।^२

सुखासन—जिस प्रकार सुखपूर्वक शान्ति के साथ बैठा जा सके, उस प्रकार उस आसन में स्थित होना । इससे साधक मन में उद्विग्न नहीं होता ।

ध्यान में उसका चित्त स्थिर रहता है ।^३

सुगति—उत्तम स्थिति ।^४

सुचित्त-वृद्धि—चैतसिक पवित्रता का संवर्धन, विकास ।^५

सुवाक्षिण्य—प्रज्ञापुष्ट शिष्टता ।^६

सुप्रशस्त-संहनन—अतिशय उत्तम संहनन—वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन ।^७

सुलीन—मन के चार भेदों में चौथा भेद । मन की अत्यन्त निश्चल तथा पर-

मानन्दमयी अवस्था ।^८

सुवृत्त—गोलाकार युक्त ।^९

सुवृष्णा—इडा तथा पिंगला नामक नाड़ियों की मध्यवर्तिनी नाड़ी, जिसमें शिव-स्थान माना जाता है ।^{१०}

सूक्ष्मकाययोग—शरीर की सूक्ष्म क्रिया ।^{११}

सूक्ष्मक्रिय—अनिवृत्ति—शुक्ल ध्यान के चार भेदों में तीसरा भेद । इस ध्यान में सर्वज्ञ योग-निरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म-शरीर-योग तक अपने को सीमित रखकर और सभी योगों का निरोध कर देते हैं । इसमें

१. यो. दू. स. ५३

२. का. श. १४७६

३. यो. दू. स. ४६

४. यो. प्र. ८

५. निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।

तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥

—यो. बि. ३६१

पापमय आचरण से निवृत्ति—पार्थक्य, सद् आचरण में निर्वाध प्रवृत्ति, चैतसिक सात्त्विकता, पवित्रता का संचार, संवर्धन भावना का फल माना गया है ।

६. यो. बि. १२६

७. ध्या. श. ६४

८. यो. शा. १२.४

९. यो. प्र. १२६

१०. यो. शा. ५.६१

११. यो. शा. ११.५४

मात्र श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही बची रहती है। इसमें गिरने की आशंका नहीं रहती, अतएव इसे अनिवृत्ति कहा है। यह त्रयोदश गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली के होता है।^१

सूक्ष्माभोग-समन्वित—सूक्ष्म, अन्तःस्पर्शी, चिन्तन-विमर्श से युक्त।^२

सूक्ष्मेक्षिका—सूक्ष्म दृष्टि, जिससे जीव के अनादित्व, अनन्तत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि भावों का अन्तर्दर्शन प्राप्त किया जा सके।^३

सूक्ष्मेकांग—सूक्ष्म काययोगी।^४

सूक्ष्मोपरतक्रिय—शुक्ल ध्यान के चार भेदों में चौथा भेद। जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रिया भी समाप्त हो जाती है, आत्मप्रदेश सर्वथा अप्रकम्प, सुस्थिर व अडोल हो जाते हैं, तब इस ध्यान की स्थिति आती है। यह ध्यान चतुर्दश गुणस्थानवर्ती अयोग-केवली के होता है।^५

सूत्रक्रियाविलोप—आगम सूत्रोपदिष्ट समग्र क्रिया-विधि का नाश।^६

सोपक्रम—शुभ परिणाम आदि उपाय द्वारा नष्ट करने योग्य पाप।^७

सोऽहम्—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त क्षायिक चारित्र्य, क्षायिक सम्यक्त्व, पांच लब्धियों तथा आठ गुणों से पूर्ण परमात्मा—मैं हूं, ऐसा अनुचिन्तन, परिशीलन।^८

१. ध्या. श. ८१

१. शुभकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः।

स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम्॥

—यो. बि. ३६२

उत्तम ध्येय का एकाग्रता से आलंबन—उस पर चित्त को स्थिर करना, टिकाना ज्ञानीजन द्वारा ध्यान कहा जाता है। वह दीपक की स्थिर लौ के तुल्य दीप्तिमय तथा सूक्ष्म परिशीलन युक्त होता है।

२. अ० सा० २.७६

३. यो. मा. ३२

४. ध्या. श. ८६

५. अ. सा. ३.६६

६. अ. सा. ४.४४

७. सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।

तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिम्॥

—स. श. २८

मैं वस्तुतः अनन्त ज्ञान—अनन्त सुख-स्वरूप परमात्मा ही हूं, निरन्तर इस भावना के अनुभवन द्वारा जिसने अपने स्वरूपावबोध का दृढ संस्कार प्राप्त कर लिया है, वह आत्मा में अपनी स्थिति प्राप्त

स्कन्ध—दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से युक्त पदगल ।^१

स्तम्भ—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में तीसरा दोष । खम्भे या दीवार का सहारा लेकर खड़ा होना ।^२

स्तम्भ (स्तम्भन)—स्तब्धता, अवरोध, शून्यत्व, जड़ सदृश बना देना, सुन्न कर देना ।^३

स्तन—कायोत्सर्ग के इक्कीस दोषों में दसवां दोष । डांस-मच्छर आदि से बचने हेतु अथवा अज्ञान के कारण चोलपट्ट—अधोवस्त्र को स्तनों तक बांधकर खड़ा होना ।^४

स्थान—स्थित होना । योग-वाङ्मय में सामान्यतः 'आसन' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त है, योगविशिका में 'स्थान' शब्द उसी अर्थ में है । आसन के लिए स्थान शब्द का प्रयोग अधिक समीचीन प्रतीत होता है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से आसन का अर्थ बैठना है, योग में प्रचलित सब आसन बैठकर नहीं किये जाते । भिन्न-भिन्न आसनों की भिन्न-भिन्न विधियाँ हैं । कुछ बैठकर, कुछ खड़े होकर तथा कुछ सोकर किये जाते हैं । इस प्रकार विभिन्न दशाओं में देह के स्थित होने का भाव स्थान शब्द से ठीक प्रकट होता है ।^५

स्थितप्रज्ञभाव—प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल आदि में बुद्धि का अविचलन—स्थिरता, सभी स्थितियों का अनुद्विग्न एवं प्रशान्त भाव से स्वीकार ।^६

स्थिति—ध्रुवता ।^७

स्थिरता (स्थिरत्व)—साधना में बाधा उत्पन्न करने वाले विघ्नों की चिन्ता से रहित होते हुए योगाभ्यास में सुस्थिर भाव से संलग्न रहना अथवा योग में अनुसरणीय नियम, मर्यादा एवं विधि-विधान का दृढ़ता से पालन करना । योगविशिका में निरूपित योग-भेदों में यह एक है ।^८

करने में, अपना उपयोग सुस्थिर कर पाने में सक्षम होता है ।

१. ध्या. स्त. ६०

२. का. श. १५६०-६१

३. यो. शा. ५.५२

४. का. श. १५६०-६१

५. यो. वि. २

६. अध्या. ३.३

७. ध्या. श. ५२

८. यो. वि. ६

स्थिरयोग—निश्चल, निर्विकार मानसिक, वाचिक, कायिक व्यापार ।^१

स्थिरा—आठ योगदृष्टियों में पांचवीं दृष्टि, जहा साधक अप्रतिपाती सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है । इस दृष्टि में योग का पांचवां अंग प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है । साधक द्वारा किये जाते कार्य भ्रमरहित, पापरहित तथा सूक्ष्म-बोध सहित होते हैं ।^२

स्थिराशय—श्रद्धा के उत्कर्ष से भावों की स्थिरता । आचार्य हरिभद्र ने इसका योग बीजों में समावेश किया है ।^३

स्थैर्यं—चित्तवृत्तियों की स्थिरता ।^४

स्थैर्यंसार—स्थिरतायुक्त^५

स्मृति-समायुक्त—आचार-विधि को यथावत् रूप में स्मरण रखने वाला ।^६

स्मृत्यन्तर्धान—दिग्गत के पांच अतिचारों में प्रथम अतिचार । विभिन्न दिशाओं में जाने के संदर्भ में की गई मर्यादा का विस्मरण ।^७

१. स्थिरयोगस्य तु ग्रामेऽविशेषः कानने वने ।

तेन यत्र समाधानं स देशो ध्यायतो मतः ॥

—अ. सा. ५.११०

जिस साधक के योग—मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों स्थिर हैं—उसके लिए ग्राम, उद्यान एवं वन आदि में कोई विशेषता नहीं है । जहां मन समाहित हो, मन को अनुकूलता प्रतीत हो, वही स्थान ध्यान के लिए समुचित है ।

२. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।

कृत्यमभ्रान्तमनसं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥

—यो. दृ. स. १५४

स्थिरा-दृष्टि में विद्यमान साधक का दर्शन—सम्यक् दर्शन नित्य—अप्रतिपाति, सुस्थिर होता है । वहां योग का पांचवां अंग प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है । साधक द्वारा किये जाते कार्य भ्रांति-रहित, पापरहित (दोष-वर्जित) तथा सूक्ष्मबोधयुक्त होते हैं ।

३. यो. दृ. स. २६

४. यो. बि. ५२

५. यो. मा. १६

६. यो. श. ४४

७. स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमः ।

क्षेत्रवृद्धिश्च पंचेति स्मृता दिग्विरतिव्रते ॥

—यो. शा. ३.६६

स्मृति-अन्तर्धान—विविध दिशाओं में जाने के संदर्भ में की

स्वत्वनाशन—पर को स्व मानने के भाव का निषेध ।^१

स्वत्वपत्ति—पर-पदार्थों में अपनेपन का भान ।^२

स्वनिर्भास—अपना प्रतिबिम्ब ।^३

स्वनिवृत्तिस्वभावत्व—पदार्थ के उत्पन्न होकर मिट जाने का स्वभाव—पहले क्षण पदार्थ उत्पन्न हुआ, अगले क्षण नष्ट हो गया, यों पदार्थ की क्षण-वर्तिता ।^४

स्वपराध्यवसाय—अपना तथा औरों का भाव ।^५

स्वभाववादापत्ति—स्वभाव से ही कार्य होता है, इस (स्वभाववादी) मान्यता में दोष की संभावना ।^६

स्वभावसाम्य—निभ्रन्ति, निस्तरंग समतारूप आत्मभाव ।^७

स्वभावोपमर्द—विभाव या परभाव के आक्रमण द्वारा स्वभाव का उपमर्दन या आवरण ।^८

स्वभेदप्रतियोगी—आत्मा के भावों के प्रतिकूल—आत्मेतरभाव ।^९

स्वरूपानुबोध—आत्मा की अपने स्वरूप में परिणति ।^{१०}

गई मर्यादा का विस्मरण, ऊर्ध्व, दिशा, अधःदिशा, तिर्यक् दिशा में मर्यादित परिमाण का उल्लंघन (मर्यादा से आगे चले जाना), क्षेत्र-वृद्धि—एक दिशा में जाने के मर्यादित परिमाण को कम कर दूसरी दिशा में जाने के परिमाण का परिवर्धन—दिग्व्रत के ये पांच अतिचार हैं ।

१. अ. सा. ६.१०६

२. अ. सा. ६.१०६

३. यो. बि. ४४६

४. यो. बि. ४७०

५. स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।

वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥

—स. ज्ञ. ११

जिनको आत्म-तत्त्व का बोध नहीं, वैसे पुरुष अपनी देह को ही आत्मा मानते हुए उसी बुद्धि से अपने पुत्र, पत्नी आदि में भ्रान्तिवश अपनेपन की—ये मेरे हैं, विपरीत मान्यता लिये रहते हैं ।

६. यो. बि. ७८

७. अध्या. ४.६

८. यो. वृ. स. १६१

९. अ. सा. ६.३

१०. यो. बि. ४२१

स्वरूपोपलम्भ—अपने स्वरूप की उपलब्धि ।^१

स्वसंवित्ति—आत्मस्वरूपानुभव ।^२

स्वसंवित्ति—स्वसंवेदन, स्वरूपानुभूतिमय अन्तःस्पन्दन ।^३

स्वसंवेद्य—अपने संवेदन का स्वयं विषय ।^४

स्वसिद्ध्यर्थी—मुक्तिरूप सिद्धि के इच्छुक ।^५

स्वहंस—अपनी आत्मा, अन्तरात्मा ।^६

स्वाभाव्यनिबन्धन—स्वभाव के अनुरूप संघटना ।^७

१. क्षीणे रागादिसंताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि ।

यः स्वरूपोपलम्भः स्यात् स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः ॥

—ज्ञाना. ३.३१

राग-द्वेष आदि की शृंखला का क्षय हो जाने पर अन्तरात्मा में आध्यात्मिक हर्षोदगम होता है । आत्मस्वरूप का उपलम्भ—अधि-गम, साक्षात्कार होता है । यह शुद्ध ध्यान का विषय है ।

२. स्वसंवित्ति समायान्ति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।

आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥ —ज्ञाना. १६.७७

कषायरूपी विषम ज्वर को सर्वथा शान्त कर संयमी पुरुष पर-मात्म-स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, जो उनके लिए उत्कृष्ट तत्त्वोप-लब्धि है ।

३. नाभि-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः ।

मुखं कणौ शिरश्चेति ध्यान-स्थानान्यकीर्तयन् ॥

एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः ।

उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्हेतवः प्रत्ययाः किल ॥ —यो. शा. ६.७-८

नाभि, हृदय, नाक का अग्रभाग, ललाट, भौं, तालु, आंख, मुंह, कान तथा मस्तक—ये चित्त को स्थिर करने—ठहराने के (धारणा के) स्थान हैं ।

इनमें से किसी एक पर (दीर्घकाल पर्यन्त) चित्त को स्थापित करने से, टिकाये रखने से स्वसंवेदन की अनेक प्रतीतियां प्रादुर्भूत होती हैं ।

४. ध्या. स्त. ३५

५. ज्ञाना. ३५.३१

६. स्वहंसमन्तरात्मानं चिद्रूपं परमात्मनि ।

योजयेत् परमे हंसे निर्वाणपदमाश्रिते ॥ —यो. प्र. ४६

साधक को चाहिए कि वह चिन्मय अन्तरात्मा-रूप स्वहंस को निर्वाणप्राप्त परमात्मा-रूप परमहंस में योजित करे—तन्मय बनाए ।

७. यो. बि. ७

स्वाभाव्ययोग—विभाव का आवरण हट जाने पर जब आत्मा का स्वभाव उद्घाटित, अनावृत हो जाता है, तब वैसी स्थिति को स्वाभाव्ययोग कहा जाता है ।^१

स्वास्थ्य—आत्मस्थिति—आत्मा में या अपने आप में स्थिरता ।^२

स्वोपमर्द—आत्मा के दुःखात्मक, मोहात्मक परिणाम का विनाश ।^३

ह

हाठिक—जिन उपायों द्वारा जो साध्य हैं, उन्हें तद्विपरीत इतर उपायों द्वारा साधने को हठपूर्वक प्रयत्नशील ।^४

हितारम्भ—आत्मा का यथार्थ हित—श्रेयस् साधने वाली मोक्षपरक प्रवृत्ति ।^५

हितोदया—योगाभ्यासमूलक वह प्रवृत्ति, जिसकी फल-निष्पत्ति आध्यात्मिक विकास में प्रस्फुटित होती है ।^६

हृत्पङ्कज—हृदय-कमल ।^७

हृन्नाभिपद्म—हृदयपद्म—अनाहत चक्र; नाभिपद्म—मणिपूर चक्र ।^८

१. यो. दृ. स. १९१

२. ध्या. स्त. ६४

३. अ. सा. २८०

४. न ह्युपायान्तरोपेयमुपायान्तरतोऽपि हि ।

हाठिकानामपि यतस्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥

—यो. बि. २३६

जो उपलब्धियां जिन उपायों द्वारा स्वायत्त की जा सकती हैं, उनसे भिन्न उपायों द्वारा आग्रहपूर्वक प्रयत्न करने पर भी वे प्राप्त नहीं होतीं । अतः साधक को आत्मप्रत्यय-परायण होकर—आत्म-प्रतीति, आत्मानुभूति का आलम्बन लेकर अभ्यास करना चाहिए ।

५. यो. दृ. स. ४१

६. यो. दृ. स. १६२

७. यो. मा. ११

८. हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोच्चिरपायतः ।

अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि ॥

—यो. शा. ३.६०

सूर्य के अस्त हो जाने पर देहान्तर्वर्ती हृत्-कमल तथा नाभि-कमल संकुचित हो जाते हैं—सिकुड़ जाते हैं । अतः रात में भोजन नहीं करना चाहिए । रात में भोजन न करने का एक अन्य कारण भी है—रात में यथेष्ट प्रकाश न होने से सूक्ष्म जीव खाने में आ जाते हैं ।

Serving JinShasan



042925

gyanmandir@kobatirth.org